मैकॉले बनाम भारतीय ज्ञान-प्रणालियाँ और शिक्षा-व्यवस्था

अभय कुमार दुबे

इस अनुसन्धान में मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी की दावेदारियों की जाँच की गई है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों के माध्यम से दिखाया गया है कि जब भारत की क्षेत्रीय और क्लासिक भाषाओं को ज्ञानोत्पादन के लिए अक्षम बताया जा रहा था, उस समय उनके दायरों में किस तरह की शिक्षा-प्रणालियाँ चल रही थीं और वे ज्ञानोत्पादन की कौन-सी परम्पराओं से सम्पन्न थीं। मैकॉले का दावा किस हद तक सही था? क्या उपनिवेशवादियों द्वारा पूर्व के ज्ञान को गुणवत्ताविहीन बता कर ख़ारिज करने के लिए पश्चिमी ज्ञान-प्रणाली द्वारा प्रदत्त प्रविधियों और बौद्धिक संहिताओं का इस्तेमाल किया गया था? इसी के साथ यह लेख प्राच्यवादियों (ओरिएंटलिस्ट्स) द्वारा अपनाई गई 'क़लम लगाने की रणनीति', आंग्लवादियों (एंग्लिसिस्ट्स) द्वारा प्रतिपादित 'छनन सिद्धान्त' और वर्नाकुलरिस्ट्स द्वारा भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने के आग्रह की समीक्षा करते हुए दिखाता है कि किस तरह ये तीनों एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने की विभिन्न युक्तियाँ थीं, और यह लक्ष्य था भारत पर अँग्रेज़ी भाषा को थोपना।

1834 के साल और जून के महीने में थॉमस बेबिंग्टन मैकॉले ने मद्रास के तट पर अपने क़दम रखे। उनके साथ उनकी बहन हान्ना मोर मैकॉले भी थीं। हान्ना अपने मंगेत्तर और अँग्रेज़ी-शिक्षा के उग्र समर्थक चार्ल्स ट्रेवेलियन से मिलने कलकत्ता चली गईं और दिसम्बर में शादी के बाद ट्रेवेलियन मैकॉले के बहनोई बन गए। गवर्नर-जनरल विलियम बेंटिक ने इन्हीं ट्रेवेलियन को जनरल कमेटी फ़ॉर पब्लिक इंस्ट्रक्शन (जीसीपीआई जिसके ऊपर बंगाल में शिक्षा-प्रणाली के संचालन की ज़िम्मेदारी थी) का सदस्य नामज़द किया था। मैकॉले सीधे नीलगिरी की पहाड़ियों में स्थिति ऊटकमंड (उटी) के लिए रवाना हो गए ताकि वहाँ ग्रीष्मकालीन प्रवास कर रहे गवर्नर-जनरल से मिल कर उनकी सुप्रीम कौंसिल की भीतरी राजनीति के बारे में जानकारी हासिल कर सकें। ऊटकमंड में मैकॉले और बेंटिक कई महीने साथ-साथ रहे। इस दौरान दोनों को एक-दूसरे के विचार नज़दीकी से जानने का मौक़ा मिला, और उनके बीच एक तरह की दोस्ती हो गई। बेंटिक को पूरी तरह से यक़ीन हो गया कि शिक्षा और भाषा सम्बन्धी विवाद के बारे में मैकॉले के विचार किस तरह उनके अपने विचारों से पूरी तरह मिलते हैं। इसी के बाद बेंटिक ने उन्हें जीसीपीआई के ग्यारहवें सदस्य के रूप में उसका अध्यक्ष बना दिया।[1] इरादा साफ़ था। अगर किसी मुद्दे पर आंग्लवादियों और प्राच्यवादियों के बीच कमेटी पाँच-पाँच में बँट जाती तो मैकॉले अपना वोट डाल कर फ़ैसले

1. जैस्टौपिल और मार्टिन मोइर (1999) की मान्यता है कि जब बेंटिक ने मैकॉले को यह अध्यक्ष पद देने की पेशकश की तो मैकॉले ने उसे लेने से इंकार कर दिया। यानी अपने ऐतिहासिक मिनट स्वीकृत होने के समय वे कमेटी के अध्यक्ष नहीं थे, और यह पद उन्होंने बाद में ग्रहण किया। लेकिन अन्य विमर्शकार इस मामले में स्पष्ट हैं कि मैकॉले ने न केवल ये मिनट कमेटी के अध्यक्ष के रूप में लिखे, बल्कि उन्हें कमेटी के भीतर संघर्ष करके अपने वोट के दम पर पारित भी कराया।

को आंग्लवादियों के पक्ष में झुका सकते थे। प्राच्यवादियों और आंग्लवादियों के बीच अन्तर केवल अँग्रेज़ी थोपने की रणनीति को लेकर था। प्राच्यवादी शुरुआत में भारतीय भाषाओं में शिक्षा देने के पहले चरण पर 'क़लम लगाने की रणनीति' या 'इनग्राफ़्टमेंट पॉलिसी' के ज़रिए अँग्रेज़ी की स्थापना के पक्ष में थे। आंग्लवादियों की मान्यता थी कि भारतीय भाषाओं के चक्कर में फँसे बिना सीधे-सीधे अँग्रेज़ी थोप दी जानी चाहिए।

मैकॉले और बेंटिक के बीच की जुगलबन्दी कितनी नज़दीकी क़िस्म की थी, इसका पता इस बात से चलता है कि दो फ़रवरी, 1935 के लिखे गए अपने 'मिनट ऑन एजुकेशन' मैकॉले ने कमेटी के साथ साझा करने और उसमें पारित करवाने के बजाय सीधे बेंटिक के सामने पेश किए। बेंटिक भी शायद नहीं चाहते होंगे कि ये मिनट बहस-मुबाहिसे में फँसें। उनके लिए इतना दिखावा काफ़ी था कि जीसीपीआई के अध्यक्ष की क़लम से उन्हें अँग्रेज़ी-शिक्षा के पक्ष में सिफ़ारिशें मिल रही थीं। इसलिए उन्होंने मिनट हाथ में आते ही उनके नीचे मैकॉले के दस्तख़तों के बाद अपनी टिप्पणी दर्ज कर दी, 'मैं इन मिनट में व्यक्त भावनाओं के प्रति अपनी पूर्ण सहमति व्यक्त करता हूँ।'[2] अपनी सहमति दे देने के बाद 'समुचित प्रक्रिया' की खानापूरी करने की ख़ातिर बेंटिक ने मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी जीसीपीआई के वरिष्ठ प्राच्यवादी सदस्य और शिक्षा विभाग के सचिव एचटी प्रिंसेप को भेजी ताकि वे उसे गवर्नर-जनरल की सुप्रीम कौंसिल के ध्यानार्थ प्रस्तुत करें। प्रिंसेप ने इस आदेश का पालन करते हुए मैकॉले की टिप्पणी को कौंसिल में विचारार्थ रखा। प्रिंसेपकी डायरी से मिलने वाले वृत्तान्त से भी पता लगता है कि बेंटिक और मैकॉले के बीच उस समय क्या चल रहा था, और दोनों मिल कर भारत की शिक्षा-व्यवस्था का भविष्य तय करने में किस तरह से जुटे थे :

> *मैं विस्तार से यह वर्णन करने की कोशिश नहीं करूँगा कि ऊटकमंड से लौटने के बाद थोड़े समय तक कलकत्ता में ठहरने के दौरान गवर्नर-जनरल ने क्या किया, बल्कि मैं ख़ुद को दो-तीन बातों तक सीमित रखूँगा जिनसे मेरे विभाग का ताल्लुक है और जिसमें मुख्य भूमिका मेरी ही है। ... कौंसिल ऑफ़ एजुकेशन में मेरे पास ही बहुमत वाला वोट था, पर तभी टीबी मैकॉले का कौंसिल ऑफ़ इंडिया के नए लेजिस्लेटिव मेंबर के रूप में आगमन हुआ। ऊँची साहित्यिक प्रतिष्ठा के कारण सरकार ने उन्हें कौंसिल ऑफ़ एजुकेशन का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। इसके बाद इंग्लिश पार्टी (अँग्रेज़ी समर्थक सदस्य) आशा से भर उठी कि उनके प्रभाव और प्राधिकार से मेरे और मेरे समर्थकों के मुक़ाबले उनका पलड़ा भारी हो जाएगा। जब तक लॉर्ड डब्ल्यू बेंटिक ने अपने पद पर फिर से कामकाज शुरू नहीं कर दिया, वे (मैकॉले) एक मौन प्रेक्षक की भूमिका ही निभाते रहे। इसके बाद अचानक एक दिन कौंसिल ऑफ़ एजुकेशन में चर्चा किए बिना उन्होंने विस्तृत मिनट लिख डाले। ... ये मिनट टीबी मैकॉले ने लॉर्ड विलियम बेंटिक को उनके बैरकपुर स्थित कंट्री-हाउस में थमा दिए। लॉर्ड विलियम ने मिनट के नीचे उन्हें स्वीकार करने की छोटी-सी टिप्पणी लिख कर मेरे पास इस*

मैकॉले और बेंटिक के बीच की जुगलबन्दी कितनी नज़दीकी क़िस्म की थी, इसका पता इस बात से चलता है कि दो फ़रवरी, 1935 के लिखे गए अपने 'मिनट ऑन एजुकेशन' मैकॉले ने कमेटी के साथ साझा करने और उसमें पारित करवाने के बजाय सीधे बेंटिक के सामने पेश किए। बेंटिक भी शायद नहीं चाहते होंगे कि ये मिनट बहस-मुबाहिसे में फँसें।

2. शिवाजी बंद्योपाध्याय (2012), वही.

आदेश के साथ भेज दिए कि मैं उसे कौंसिल के सामने रख दूँ।[3]

शिवाजी बंद्योपाध्याय के अनुसार जब मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी जीसीपीआई में विचारार्थ रखी गई तो अध्यक्ष को छोड़ कर कमेटी के दस सदस्यों में से पाँच (एच शेक्सपियर, एचटी प्रिंसेप, जेम्स प्रिंसेप, डब्ल्यूएच मैक्नैघ्टन और टीसीसी सदरलैंड) ने इनका विरोध किया, और पाँच (डब्ल्यूडब्ल्यू बर्ड, सांडर्स, बुशबाई, चार्ल्स ट्रेवेलियन और जेआर कोल्विन) ने समर्थन किया। गतिरोध की स्थिति में मिनट के लेखक और कमेटी के अध्यक्ष मैकॉले ने तटस्थ रहने के बजाय अपना वोट ख़ुद अपने-आप को दिया। बंद्योपाध्याय के अनुसार, 'जिस व्यक्ति को भारत में अँग्रेज़ी-शिक्षा का अनुमोदन करने का श्रेय दिया जाता है, वह कोई और न हो कर उनके अनुमोदन के लिए पैरोकारी करने वाला उस मिनट का लेखक ही था।' गवर्नर-जनरल की कौंसिल में जब मिनट पर चर्चा हुई तो प्रिंसेप और मैकॉले के बीच गरमा-गरमी हो गई। प्रिंसेप इस दस्तावेज़ की आलोचना करने वाला अपना दस्तावेज़ लिख कर लाए थे, लेकिन बेंटिक ने अपने शिक्षा सचिव के इस रवैए को नापसन्द करते हुए उनके दस्तावेज़ को कौंसिल के सामने रखने की इजाज़त नहीं दी।[4]



थोमस बैबिंग्टन मैकॉले
25 अक्तूबर 1800 - 28 दिसम्बर 1859

जैसा कि ज़ाहिर है, सरकार के भीतर प्रिंसेप की लड़ाई पराजित होने के लिए अभिशप्त थी। हाँ, यह ज़रूर है कि इस लड़ाई की जो प्रतिध्वनियाँ बाहर बंगाल के बौद्धिक समाज में सुनाई पड़ रही थीं, उन्हें बेंटिक ने ध्यान से सुन कर इस असन्तोष को और न भड़कने देने का हथकण्डा अपनाया। कलकत्ता के आठ हज़ार मुसलमान बाशिन्दों ने अपने दस्तख़तों से उन्हें एक ज्ञापन दिया था जिसमें डर जताया गया था कि कलकत्ता मदरसा बन्द कर दिया जाएगा। इसके फ़ौरन बाद कलकत्ता के संस्कृत कॉलेज के 76,000 छात्रों ने अपने संस्थान के पक्ष में प्रतिवेदन दिया था। मैकॉले की टिप्पणी को स्वीकृति देने के महीने भर के भीतर-भीतर 7 मार्च, 1835 को बेंटिक ने अपना वह आदेश पारित किया जिससे भारत में शिक्षा-व्यवस्था का भविष्य आख़िरी तौर से तय होना था।[5] इस आदेश के दो पहलू थे। पहला, यह आदेश इस मामले में पूरी तरह स्पष्ट था कि भारत में ब्रिटिश शासन का उद्देश्य भारतवासियों के बीच युरोपीय साहित्य और विज्ञान को बढ़ावा देना है और शिक्षा के लिए ख़र्च किया जाने वाला एक-एक पैसा केवल अँग्रेज़ी शिक्षा पर ही ख़र्च किया जाएगा। दूसरा, बेंटिक ने मदरसे और संस्कृत कॉलेज के प्रतिवेदनों का ख़्याल रखते हुए उन्हें बन्द न करने का ऐलान किया था, लेकिन यह असन्तोष को दबाने की एक फ़ौरी कार्यनीति थी जिसका बेंटिक के दीर्घकालीन मक़सदों में कोई स्थान नहीं था। आदेश पारित होने से पहले ही

3. देखें, एच शार्प (1920), *सिलेक्शंस फ़्रॉम एजुकेशनल रिकॉर्ड्स, पार्ट 1, 1791-1839,* (एक्सट्रैक्ट्स फ़्रॉम द डायरी ऑफ़ एचटी प्रिंसेप), ब्यूरो ऑफ़ एजुकेशन, इंडिया, कलकत्ता : 132-133.

4. देखें, एच शार्प (1920) में प्रिंसेप की डायरी. प्रिंसेप ने बेंटिक द्वारा उन्हें रोके जाने की कड़ी आलोचना की है.

5. बेंटिक के इस आदेश के मूल पाठ के लिए देखें, ज़ैस्टौपिल और मार्टिन मोइर (1999), वही : 194-196.

बेंटिक के 1829 से 1835 के कार्यकाल के दौरान फ़ोर्ट विलियम कॉलेज का तानाबाना बिखर चुका था और एशियाटिक सोसाइटी ज़बरदस्त वित्तीय कठिनाइयों का सामना कर रही थी। कलकत्ता मदरसा और संस्कृत कॉलेज पहले ही बन्द होने के कगार पर थे। कलकत्ता स्कूल और स्कूल बुक सोसाइटी जैसी संस्थाएँ निष्प्रभावी हो चुकी थीं। भारतीय भाषाओं के लिए प्रतिष्ठित श्रीरामपुर कॉलेज के पाठ्यक्रम का अँग्रेज़ीकरण हो चुका था।[6]

इसी के साथ प्राच्य-शिक्षा की सभी परियोजनाएँ और कार्यक्रम सरकार द्वारा ठप्प कर दिए गए, बावजूद इसके कि बेंटिक ने अपने आदेश में साफ़ किया था कि उनकी सरकार कलकत्ता मदरसा या संस्कृति कॉलेज जैसी प्राच्यवादी-अध्ययन करने वाली संस्थाओं को बन्द नहीं करेगी। मिनट की पृष्ठभूमि का गहन अध्ययन करने वाले कट्स ने इस ऐतिहासिक निर्णय के परिणामों का सार-संकलन इस प्रकार किया है :

> *ब्रिटिश राज की शिक्षा-नीति के तौर पर क़ायम रहने वाली बेंटिक की शिक्षा-नीति ने न केवल भारतीय छात्रों से अँग्रेज़ी भाषा का अध्ययन करने की अपेक्षा की, बल्कि कॉलेज स्तर पर सभी पाठ्यक्रमों की शिक्षा के लिए केवल अँग्रेज़ी का माध्यम ही अनिवार्य कर दिया। इसका मतलब था कि उच्च-शिक्षा पाने की शुरुआत करने से पहले कॉलेज की डिग्री पाने के इच्छुक सभी भारतवासियों को लाज़िमी तौर एक विदेशी भाषा सीखनी ही थी। कॉलेज की शिक्षा और उसके इच्छुक भारतीय छात्रों के बीच में खड़ा किया गया यह मुश्किल अवरोध 1835 में न केवल मैकॉले और बेंटिक को, बल्कि भारत के अधिकतर ईसाई मिशनरियों और इंग्लैंड स्थित इवांजिलिकल नेतृत्व को सही और उचित लग रहा था। भाषा के इस अवरोध को पार करके कॉलेज की डिग्री प्राप्त करने वाले भारतीय छात्रों को उसी के साथ-साथ 'लर्निड नेटिव' की ख़ास उपाधि के रूप में एक ख़ास मान्यता और मिलने वाली थी।*[7]

> 1835 से 1853 के बीच बेंटिक की शिक्षा–नीति के परिणामस्वरूप कम्पनी सरकार ने शिक्षा पर ख़ुल कर ख़र्च किया। हर साल बजट में दस लाख रुपए का इजाफ़ा हुआ। कम्पनी के स्कूलों की संख्या चार सौ से बढ़ कर चौदह सौ और उनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या 8,000 से बढ़ कर 67,000 हो गई। ईसाई मिशनरी शिक्षा में अपनी भूमिका पहले से भी अधिक उत्साह से निभाने लगी।

1835 से 1853 के बीच बेंटिक की शिक्षा-नीति के परिणामस्वरूप कम्पनी सरकार ने शिक्षा पर ख़ुल कर ख़र्च किया। हर साल बजट में दस लाख रुपए का इजाफ़ा हुआ। कम्पनी के स्कूलों की संख्या चार सौ से बढ़ कर चौदह सौ और उनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या 8,000 से बढ़ कर 67,000 हो गई। ईसाई मिशनरी शिक्षा में अपनी भूमिका पहले से भी अधिक उत्साह से निभाने लगे। भारत के स्कूलों में पढ़ाने वाले ज़्यादातर शिक्षक मिशन स्कूलों में ही तैयार किए गए थे। यह सब अँग्रेज़ी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए हो रहा था। 1855 में बंगाल की विधानसभा ने दावा किया, 'हर ज़िले में अँग्रेज़ी शिक्षा के लिए माँग बढ़ती जा रही है, और इस माँग की मज़बूती का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि स्कूलों की फ़ीस स्वेच्छा से दी जा रही है और निजी स्कूल अध्यापकों की संख्या बढ़ाने के लिए तैयार हैं।'[8]

6. देखें, डेविड कॉफ़ (1969), *ब्रिटिश ओरिएंटलिज़म ऐंड द बेंगाल रेनासाँ : द डायनामिक्स ऑफ़ इंडियन मॉडर्नाइज़ेशन 1773-1835,* फ़र्मा केएल मुखोपाध्याय, कलकत्ता : 241.

7. एल्मर एच कट्स (1953), वही.

8. देखें, नैंसी एल एडम्स और डेनिस एम एडम्स (1971), वही.

अँग्रेज़ी की इस बढ़ी हुई लोकप्रियता के पीछे एक बड़ा कारण यह भी था कि वह अदालत और सरकारी कामकाज की भाषा बन चुकी थी। 1844 में लॉर्ड हार्डिंग ऐलान कर ही चुके थे कि अँग्रेज़ी जानने वालों को सभी तरह की सरकारी नियुक्तियों में प्राथमिकता प्राप्त होगी।[9]

मैकॉले की टिप्पणी बनाम क़लम लगाने की रणनीति

मैकॉले की सिर्फ़ 5,435 शब्द लम्बी टिप्पणी[10] का न जाने कितने बार और कितने विद्वानों द्वारा तात्पर्य-निरूपण किया जा चुका है। लेकिन, भारत में अँग्रेज़ी का अवधारणात्मक इतिहास लिखने के लिए ज़रूरी है कि विभिन्न पाठों की मदद से इस टिप्पणी का न केवल एक और समग्र पाठ किया जाए, बल्कि इन मिनट की दावेदारियाँ भी तत्कालीन सन्दर्भ में सच्चाई की कसौटी पर कसी जाएँ।

> मैकॉले की सिर्फ़ 5,435 शब्द लम्बी टिप्पणी का न जाने कितने बार और कितने विद्वानों द्वारा तात्पर्य–निरूपण किया जा चुका है। लेकिन, भारत में अँग्रेज़ी का अवधारणात्मक इतिहास लिखने के लिए ज़रूरी है कि विभिन्न पाठों की मदद से इस टिप्पणी का न केवल एक और समग्र पाठ किया जाए, बल्कि इन मिनट की दावेदारियाँ भी तत्कालीन सन्दर्भ में सच्चाई की कसौटी पर कसी जाएँ।

मैकॉले ने अपनी टिप्पणी में प्राच्यवादी पक्ष पर आरोप लगाया था कि वे अपने निहित स्वार्थ के कारण पुरानी नीति की पैरोकारी कर रहे हैं। दूसरे, उन्होंने 1813 के एक्ट के अनुच्छेद 43 के प्रचलित मतलब से अलग मतलब निकालने की कोशिश की थी कि इसका अर्थ अनिवार्य तौर पर संस्कृत और अरबी के साहित्य को प्रोत्साहन देना नहीं है और गवर्नर-जनरल अगर चाहें तो शिक्षा के लिए ख़र्च किए जाने वाले एक लाख रुपए का इस्तेमाल दूसरे मक़सदों से भी कर सकते हैं। मैकॉले ने यह तक कहा कि इसके लिए पहले तो नया क़ानून बनाने की ज़रूरत नहीं है और अनुच्छेद 43 के तहत ही ऐसा किया जा सकता है, और अगर ज़रूरत पड़ी भी तो वे फटाफट नया क़ानून भी लिख कर प्रस्तावित कर देंगे। इसके अलावा मैकॉले ने कुछ दावे भी किए थे : मसलन, भारत में लोग संस्कृत और अरबी पढ़ना ही नहीं चाहते और उनकी इच्छा तो अँग्रेज़ी पढ़ने की है; अँग्रेज़ी पढ़ने की इच्छा इतनी प्रबल है कि लोग उसके लिए शुल्क देने तक के लिए तैयार हैं, जबकि अरबी और संस्कृत पढ़ने वालों को वजीफ़े देने पड़ते हैं; अरबी और संस्कृत पढ़ने के लिए उपलब्ध कराई गई स्थायी निधि को सम्पत्ति के अधिकार का दर्जा देना दरअसल इस पवित्र अधिकार का दुरुपयोग होगा; जिस तरह यूनानी और लैटिन ने युरोप का पुनर्जागरण किया था, उसी तरह अँग्रेज़ी भारत का पुनर्जागरण कर देगी; संस्कृत और अरबी में लिखे साहित्य का स्तर बेहद गिरा हुआ है, यहाँ तक कि इंग्लैंड की प्रायमरी स्कूल की किताब भी उससे बेहतर है; उसका मुक़ाबला युरोपीय साहित्य से तो किया ही नहीं जा सकता, यहाँ तक कि एशियाई भाषाओं में लिखा गया समस्त साहित्य युरोपीय साहित्य की एक अलमारी से भी श्रेष्ठ नहीं है; अन्य भारतीय भाषाएँ तो इतनी स्तरहीन हैं कि उनमें अँग्रेज़ी की किसी रचना का अनुवाद भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार मैकॉले इस निष्कर्ष तक पहुँचे कि भारतवासियों को उनकी किसी भी भाषा में शिक्षा नहीं दी जा सकती; चूँकि युरोप की सभी भाषाओं में भी अँग्रेज़ी श्रेष्ठ है (यूनानी

9. देखें, डीके बसु : 7.

10. मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी के मूल पाठ के लिए देखें, ज़ैस्टौपिल और मार्टिन मोइर (1999), वही : 161-173. इनके अविकल हिन्दी अनुवाद के लिए देखें, हृदय कांत दीवान, रमा कांत अग्निहोत्री, अरुण चतुर्वेदी, वेददान सुधीर और रजनी द्विवेदी (2017), *मैकॉले, ऐलफ़िंस्टन और भारतीय शिक्षा,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली : 297-311. इस अध्याय में मैकॉले की टिप्पणी से सम्बन्धित सभी उद्धरण इसी हवाले से.

जैसी क्लासिक भाषा के समकक्ष है) इसलिए भारतवासियों को लाज़िमी तौर पर अँग्रेज़ी में ही शिक्षा दी जानी चाहिए; और इसीलिए संस्कृत या अरबी में अध्ययन पर कोई धन नहीं ख़र्च किया जाना चाहिए।

तर्क के तौर पर इनमें कोई भी नई बात नहीं थी। प्राच्यवादियों द्वारा चलाई जा रही 'क़लम लगाने' की रणनीति की जो आलोचना आंग्लवादी करते रहे थे, उसी को मैकॉले ने अधिक आक्रामक और अपने एकतरफ़ा लफ़्फ़ाज़ी वाले स्वाभाविक अन्दाज़ में सूत्रीकरण करते हुए संक्षेप में लिख दिया था। ज़ाहिरा तौर पर मैकॉले की टिप्पणी की पहली आलोचना जीसीपीआई के उन सदस्यों की तरफ़ से आई, जो प्राच्यवादी थे और 'क़लम लगाने' की रणनीति लागू कर रहे थे। ऊपर बताया जा चुका है कि प्रिंसेप गवर्नर-जनरल की कौंसिल में अपनी आलोचना लिख कर लाए थे, जो उन्हें वहाँ पेश नहीं करने दी गई थी।[11] प्राच्यवादियों ने तथ्यों के आधार पर मैकॉले का मुँहतोड़ जवाब देने की कोशिश की। निश्चित रूप से उनकी दलीलें मैकॉले के मुक़ाबले अधिक तर्कसंगत और ठोस थीं। उन्हें उम्मीद थी कि अगर सार्वजनिक जीवन में यह विवाद उठा तो सरकार को मैकॉले की बातें मानने और उनपर अमल करने के बारे में दोबारा सोचना होगा। लेकिन जब प्रिंसेप की आलोचना मैकॉले को भेजी गई तो उन्होंने उसके हाशिए पर अपनी टिप्पणियाँ लिख कर उसे तिरस्कारपूर्ण तरीक़े से निबटा दिया। इससे पता चलता है कि प्राच्यवादी दलीलें अपने ठुकराए जाने का ही इन्तज़ार कर रही थीं। मसलन, अनुच्छेद 43 के सन्दर्भ में अपने दावे के खण्डन के जवाब में मैकॉले ने सिर्फ़ एक पंक्ति लिखी कि 'क़ानूनी मुद्दे पर मैंने सर टी रायन से सलाह ली है और उनकी राय में मिस्टर प्रिंसेप की बातों में कोई दम नहीं है।' सम्पत्ति के अधिकार वाले सवाल पर उन्होंने मुँह बिचकाने के अन्दाज़ में लिखा कि 'मेरी टिप्पणी इस मसले पर अपना बचाव करने में सक्षम है।'

प्राच्यवादियों ने तथ्यों के आधार पर मैकॉले का मुँहतोड़ जवाब देने की कोशिश की। निश्चित रूप से उनकी दलीलें मैकॉले के मुक़ाबले अधिक तर्कसंगत और ठोस थीं। उन्हें उम्मीद थी कि अगर सार्वजनिक जीवन में यह विवाद उठा तो सरकार को मैकॉले की बातें मानने और उनपर अमल करने के बारे में दोबारा सोचना होगा।

प्रिंसेप ने जिस जगह यह तर्क दिया था कि भारत के मुसलमानों के लिए फ़ारसी और अरबी की और हिन्दुओं के लिए संस्कृत की वही हैसियत है जो युरोप के लिए यूनानी और लैटिन की थी ('भारत के ज़्यादातर लोगों के लिए अँग्रेज़ी उसी तरह से विजातीय भाषा है जिस तरह से अन्धकार युग के नाइट्स के लिए अरबी थी'), वहाँ मैकॉले ने इस तर्क को ठीक से सम्बोधित किए बिना अजीब तरीक़े से लिख दिया, 'उससे ज़्यादा विजातीय तो नहीं हो सकती जितनी यूनानी हेनरी अष्टम की प्रजा के लिए थी।' जब प्रिंसेप ने रूस के आधुनिकीकरण के मैकॉले द्वारा दिए गए उदाहरण को भारत के लिए अनुपयुक्त ठहराते हुए कहा कि रूस के स्कूलों में तो जर्मन कभी अलग से पढ़ाई ही नहीं गई, तो मैकॉले ने अड़ियल अन्दाज़ में लिखा, 'यह सही नहीं है। रूस का शिक्षित वर्ग जो कुछ भी जानता है वह उसने अँग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन आदि के ज़रिए सीखा है। अँग्रेज़ी, फ्रेंच और जर्मन से सीख कर अब वह नकल करने और अनुवाद करने की शुरुआत कर रहा है। मुझे उम्मीद और यक़ीन है कि यही है वह रास्ता जो हमारी देशी प्रजा का शिक्षित वर्ग अपनाएगा।' जब प्रिंसेप ने कहा

11. देखें, एच शार्प (1920), (नोट, डेटिड द 15थ फ़ेबररी 1835, बाई एचटी प्रिंसेप- विद मार्जिनल नोट्स बाई मैकॉले), ब्यूरो ऑफ़ एजुकेशन, इंडिया, कलकत्ता : 117-129. यहाँ दी गई प्रिंसेप की दलीलें और मैकॉले के जवाब इसी दस्तावेज़ से.

कि मुसलमानों को अरबी-फ़ारसी के प्रति और हिन्दुओं को संस्कृत के प्रति बड़ी श्रद्धा है तो मैकॉले ने लिखा, 'लोगों को किसी भाषा के प्रति बड़ी श्रद्धा हो सकती है, पर उसे सीखने की इच्छा नहीं। पिछली कौंसिल की बैठक के बाद मेरी राधाकांत देब से मुलाक़ात हुई है। उन्होंने मुझसे कहा है कि भारत में कोई तब तक संस्कृत ठीक से नहीं सीखता जब तक उसे बदले में कुछ भुगतान न किया जाता हो। पैसे वाले लोग कुछ सतही तरीक़े से सीखते हैं। उन्होंने मुझे आश्वस्त किया है कि बनारस में भी संस्कृत की उच्च-शिक्षा पाने वाला एक भी छात्र ऐसा नहीं है जिसे भुगतान न किया जाता हो।'

इसके बाद प्रिंसेप ने टिप्पणी में मैकॉले के कलकत्ता मदरसे से सम्बन्धित दावे को चुनौती दी, जो मैकॉले की टिप्पणी का एकमात्र तथ्यगत पहलू था। अपने मिनट के बीसवें पैरे में मैकॉले ने लिखा था कि दिसम्बर, 1833 में 77 अरबी पढ़ने वाले छात्रों को हर माह पाँच सौ रुपए वजीफ़ा दिया गया और मदरसे के खाते में लिखा है कि इस ख़र्चे में से 103 रुपए कम कर दिए जाएँ जो मई, जून और जुलाई में अँग्रेज़ी पढ़ने के लिए छात्रों ने दिए। यह उदाहरण दे कर उन्होंने साबित करने की कोशिश की कि अँग्रेज़ी पढ़ने की इच्छा इतनी प्रबल है कि छात्र जेब से ख़र्च करने के लिए भी तैयार हैं, जबकि संस्कृत और अरबी बेमन से पढ़ी जाती है और इसीलिए विद्यार्थियों को पैसे देने पड़ते हैं। प्रिंसेप ने संस्कृत कॉलेज के विद्यार्थियों द्वारा दिए गए उस ज्ञापन की सफ़ाई भी दी जिसमें शिकायत की गई थी कि उन्हें किसी तरह भुगतान नहीं किया जा रहा है। (यह ज्ञापन चार्ल्स ट्रेवेलियन ने प्राच्यवादियों को बदनाम करने के लिए 'इंजीनियर' करवाया था।)[12] प्रिंसेप ने प्राच्य-अध्ययन की बिना बिकी किताबें पड़े होने की भी सफ़ाई दी जिसका आरोप लगा कर मैकॉले ने सिद्ध करना चाहा था कि इनपर धन की बरबादी ही हुई है। मैकॉले की हाशिए में लिखी टिप्पणियाँ बताती हैं कि उन्होंने इन्हें किस तरह हल्के ढंग से लेकर ख़ारिज कर दिया। प्रिंसेप के नोट के आख़िर में मैकॉले ने लिखा कि हो सकता है कि एक-दो बातें कहने में मुझसे ग़लती हुई है, लेकिन इस पूरे मुद्दे पर मैं अपरिवर्तनीय रूप से अपनी राय पर पूरी तरह से क़ायम हूँ।

प्रिंसेप या अन्य प्राच्यवादियों की दलीलों के साथ मैकॉले का सुलूक निश्चित रूप से हेकड़ी से भरा हुआ था। लेकिन हम देख चुके हैं कि प्राच्यवादियों के पास मैकॉले के दावों का कोई रैडिकल जवाब नहीं था, क्योंकि वे दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू थे। भारतीय अतीत के बारे में मतभेदों के अलावा दोनों का लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद को क़ायम रखना था।

प्रिंसेप या अन्य प्राच्यवादियों की दलीलों के साथ मैकॉले का सुलूक निश्चित रूप से हेकड़ी से भरा हुआ था। लेकिन हम देख चुके हैं कि प्राच्यवादियों के पास मैकॉले के दावों का कोई रैडिकल जवाब नहीं था, क्योंकि वे दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू थे। भारतीय अतीत के बारे में मतभेदों के अलावा दोनों का लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद को क़ायम रखना था, दोनों को अँग्रेज़ी भाषा और युरोपीय ज्ञान-विज्ञान की श्रेष्ठता में भरोसा था, दोनों ही भारत के तत्कालीन वर्तमान को गर्हित मानते थे, और दोनों की ही निगाह में भारत का उद्धार करना ब्रिटिश उपनिवेशवाद का कर्तव्य था। प्राच्यवाद बनाम आंग्लवाद की बहस का सारतत्त्व यही था कि यह कर्तव्य पूरा करने का सबसे अच्छा तरीक़ा क्या हो सकता है।

मैकॉले का एक नया तात्पर्य-निरूपण

मैकॉले को भारत आने के कुछ महीने के

12. देखें, ज़ैस्टौपिल और मार्टिन मोइर (1999), वही : 36-37.

भीतर ही बेंटिक के आग्रह पर अपने शिक्षा सम्बन्धी मिनट लिख देने पड़े थे। आनन फ़ानन में किए गए इस काम के लिहाज़ से उस सामग्री पर ग़ौर करना मानीख़ेज़ होगा जिसका इस्तेमाल करके उन्होंने अपना लेखन किया। उनके समकालीन ब्रायन होजसन का कहना था कि ‘मिस्टर मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी मिस्टर ट्रेवेलियन की रचना (1831–1832 में लिखित और 1934 में कलकत्ता में प्रकाशित *ट्रीटाइज़ ऑन द मींस ऑफ़ कम्युनिकेटिंग द लर्निंग ऐंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ युरोप टू इंडिया)* के दूसरे संस्करण के अलावा कुछ नहीं है।’[13] ट्रेवेलियन ने अपनी इस किताब में रेनासाँ अवधि के इंग्लैंड, आधुनिक रूस और भारतीय क़ानून के बारे में जो टिप्पणियाँ की हैं, वे मिनट में काफ़ी-कुछ वैसी ही दिखती हैं।[14] इसी तरह मिनट पर राजा राममोहन रॉय के 1823 के पत्र की छाप भी वहाँ दिखती है जहाँ मैकॉले ने हिन्दू पवित्र ग्रन्थों और अपने भगवान में विलीन होने का ज़िक्र करने के साथ-साथ उपहास करने के अन्दाज़ में गधे को छूने से होने वाली अपवित्रता और बकरी के मारे जाने की ज़िम्मेदारी से बचने के लिए किए जाने वाले वेद-मंत्रों के पाठ का उल्लेख किया है।[15]

उनके समकालीन ब्रायन होजसन का कहना था कि ‘मिस्टर मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी मिस्टर ट्रेवेलियन की रचना (1831–1832 में लिखित और 1934 में कलकत्ता में प्रकाशित ट्रीटाइज़ ऑन द मींस ऑफ़ कम्युनिकेटिंग द लर्निंग ऐंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ युरोप टू इंडिया) के दूसरे संस्करण के अलावा कुछ नहीं है।’

इन उदाहरणों से मैकॉले के मानस पर पड़े प्रभावों का कुछ अन्दाज़ा लग सकता है, पर उनकी टिप्पणी के प्रत्यक्ष पाठ के पीछे भी एक पाठ छुपा हुआ है। यह प्रच्छन्न पाठ मैकॉले की उन प्रशंसाओं पर सवालिया निशाना लगाता है जो उनके कथित आलोचकों ने भी की हैं। मसलन, ब्रिटिश प्राच्यवाद की विरुदावलियाँ गाने वाले डेविड कॉफ़ का आकलन है, ‘... मैकॉले ने भारत के लिए एक पश्चिमीकरण के ऐसे कार्यक्रम की वकालत की जो धार्मिक के बजाय सेकुलर था। लगता है कि उनके और उनके पिता की पीढ़ी के कट्टर धर्मप्रचारवादियों के बीच न के बराबर समानता थी।’[16] नीचे दिया गया विश्लेषण बताता है कि मैकॉले की तर्क-योजना अपने सारतत्त्व में किस कदर धार्मिक थी।

अपनी टिप्पणी के सत्ताईसवें पैरे में संस्कृत में लिखे गए ज्ञान को पढ़ाने के आग्रह के बारे में मैकॉले की एक बेहद अहम पंक्ति है : ‘हमें मिथ्या इतिहास, मिथ्या खगोलविज्ञान, मिथ्या चिकित्साशास्त्र पढ़ाना है, क्योंकि यह एक मिथ्या धर्म का हिस्सा है।’ इसी पैरे में उन्होंने यह भी दावा किया है कि संस्कृत भाषा और साहित्य में न कोई ‘अन्तस्थ मूल्य’ है और न ही कोई विशेष ज्ञान है। यहाँ वे एक आश्वासन

---

13. ब्रायन हॉटन होजसन (1800-1894) भारत, नेपाल और तिब्बत की भाषाओं, साहित्य और धर्मों के अध्येता थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी की सिविल सर्विस में नौकरी शुरू करने के बाद उन्होंने अपना सारा जीवन भारतीय उपमहाद्वीप की विद्याओं का ज्ञान हासिल करने में लगाया। इंग्लैंड वे बहुत थोड़े समय तक गए और फिर लौट आए। 1837 में उन्होंने आंग्लवादियों को उत्तर देते हुए प्रि-एमिनेंस ऑफ़ द वर्नाक्युलर्स : ऑर द एंग्लिसिस्ट आंसर्ड की रचना की। यह उद्धरण उनकी रचना *मिसलेनियस एसेज़* (1880) के पृष्ठ 256 से।

14. ट्रेवेलियन का प्रभाव दिखाने वाले हिस्सों के लिए देखें, दीवान और अग्निहोत्री वग़ैरह (2017) में मैकॉले की टिप्पणी का पन्द्रहवाँ, सोलहवाँ और छब्बीसवाँ पैरा।

15. राजा राममोहन रॉय का प्रभाव दिखाने वाले हिस्सों के लिए देखें, दीवान और अग्निहोत्री वग़ैरह (2017) में मैकॉले की टिप्पणी का दूसरा और सत्ताईसवाँ पैरा।

16. देखें, डेविड कॉफ़ (1969), वही : 244।

17. मैकॉले की टिप्पणी के सत्ताईसवें पैरे के लिए देखें, दीवान और अग्निहोत्री वग़ैरह (2017) : 308।

भी देते हैं, 'हम सरकार की ओर से उन लोगों को कोई समर्थन नहीं देते और उम्मीद है कि आगे भी नहीं देंगे जो भारतीयों को ईसाई बनाना चाहते हैं।'[17] जब वे हिन्दू धर्म को एक मिथ्या धर्म कहते हैं तो वे धर्मप्रचारवादी चार्ल्स ग्रांट की याद दिला देते हैं जिन्होंने भारतवासियों की सारी समस्याओं की जड़ उनके हिन्दू माहौल में रहने में देखी थी। यहाँ मैकॉले ने संस्कृत में लिखे हुए इतिहास, खगोलशास्त्र और चिकित्साशास्त्र में कोई कमी निकालने की जहमत उठाने के बजाय सिर्फ़ इसलिए ख़ारिज कर दिया है कि उनका जुड़ाव एक 'मिथ्या' धर्म से है। यह स्पष्ट रूप से एक सेकुलर नहीं, बल्कि धार्मिक दावेदारी है। वैसे भी मैकॉले का उपयोगितावादी बुद्धिवाद ब्रिटिश संसद में उनके द्वारा ईसाई धर्मप्रचारवादियों की परियोजनाओं का समर्थन करने में कभी आड़े नहीं आया। इसी तरह उन्होंने सांसद के रूप में इवांजिलिकल सांसदों का विरोध भी नहीं किया जो बार-बार दावा करते थे कि अगर भारत में ब्रिटिश हुकूमत को सुरक्षित करना है और भारतवासियों के आचरण और बौद्धिक स्तर को सुधारना है तो उसका ईसाईकरण अनिवार्य है।

इसी तरह जब वे कहते हैं कि अँग्रेज़ सरकार भारत के ईसाईकरण को प्रोत्साहन नहीं देगी, तो इसका मतलब यह कतई नहीं लगाया जाना चाहिए कि वे अँग्रेज़ी पढ़ने वाले भारतवासियों को अपनी स्वतंत्र बुद्धि से अपना रास्ता चुनने के लिए छोड़ देना चाहते थे। दरअसल, मैकॉले के पिता ज़ैकरी यह पता लगने पर नाराज़ हो गए थे कि उनके बेटे ने अपनी शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी में भारत को ईसाई बनाने के ख़िलाफ़ राय दी है। अपने पिता को अपने इरादों के प्रति आश्वस्त करते हुए मैकॉले ने 12 अक्टूबर, 1835 को एक पत्र लिखा : 'आधुनिक शिक्षा से सच्चे धर्म (ट्रू फ़ेथ) में सच्चा धर्मान्तरण (ट्रू कन्वर्ज़न) करने के लिए आवश्यक ज़मीनी हालात बनने की गारंटी मिलती है। मुझे यक़ीन है कि तीस साल के भीतर-भीतर उच्चवर्गीय बंगाली हमारी तरफ़ से किए गए किसी प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के बिना ही मूर्तिपूजक आचरण को त्याग देंगे।'[18] क्या इससे नहीं लगता कि मैकॉले जिस 'कन्वर्ज़न' की अपेक्षा कर रहे थे, वह असल में अपने निहितार्थों में धार्मिक भी था, भले ही उसके लिए औपचारिक रूप से ईसाई धर्मान्तरण की मुहिम न चलानी पड़ती या भारतवासियों की धार्मिक स्वतंत्रता में दख़लअन्दाज़ी न करनी पड़ती?

> गौरी विश्वनाथन ने मैकॉले की टिप्पणी का एक विशेष निहितार्थ रेखांकित किया है। अपने अनुसन्धान में वे इस तरह के कई तथ्यों को सामने ले आती हैं जिनसे पता लगता है कि सीधे-सीधे ईसाई धर्मान्तरण की मुहिम चलाने के बजाय मैकॉले अँग्रेज़ी साहित्य के माध्यम से ईसाई धर्मशास्त्रीय मूल्यों को भारतवासियों के गले उतारने के पक्षधर थे।

गौरी विश्वनाथन ने मैकॉले की टिप्पणी का एक विशेष निहितार्थ रेखांकित किया है। अपने अनुसन्धान में वे इस तरह के कई तथ्यों को सामने ले आती हैं जिनसे पता लगता है कि सीधे-सीधे ईसाई धर्मान्तरण की मुहिम चलाने के बजाय मैकॉले अँग्रेज़ी साहित्य के माध्यम से ईसाई धर्मशास्त्रीय मूल्यों को भारतवासियों के गले उतारने के पक्षधर थे। गौरी के मुताबिक़ ब्रिटिश प्रशासक न तो पूरी तरह से सेकुलर रवैया अख़्तियार करना चाहते थे, और न ही पूरी तरह से धार्मिक। इसलिए उन्होंने मैकॉले द्वारा अँग्रेज़ी साहित्य पढ़ाने की ज़ोरदार सिफ़ारिश को बड़ी तत्परता के साथ एक ग्रहण किया, क्योंकि इसके ज़रिए उन्हें ईसाइयत और सेकुलरवाद का सही-सही और उपयोगी मिश्रण प्राप्त हो रहा था। मैकॉले और उनके बहनोई चार्ल्स ट्रेवेलियन ने प्रशासकों के लिए

18. शिबाजी बंद्योपाध्याय (2012), वही में उद्धृत. इसे एरिक स्टोक्स (1953), वही : 45-46 ने भी उद्धृत किया है.

अपने विश्लेषण के ज़रिए अँग्रेज़ी साहित्य की 'ईसाई उपयोगिता' प्रमाणित कर दी। इन दोनों ने बताया कि शेक्सपियर की रचनाएँ 'प्रोटेस्टेंट बाइबिल के विश्वस्त उसूलों' का स्रोत हैं, जोसेफ़ एडिसन की पत्रिका *स्पेक्टेटर* 'सच्ची धर्मनिष्ठता के रुझानों' से भरपूर है, फ्रांसिस बेकन और जॉन लॉक में धर्मशास्त्रीय नैतिकता दिखती है, डेविड एबेरक्रॉम्बी में 'धर्मपरायणता की भावनाएँ' मिलती हैं, और एडम स्मिथ की कृति *थियरी ऑफ़ मॉरल सेंटीमेंट्स* में 'उदात्त ईसाई जज़्बात' प्राप्त होते हैं।[19]

आख़िरकार भारत के इस अलग तरह के 'धर्मान्तरण' की इच्छा के पीछे मैकॉले के बृहत्तर उद्देश्य क्या थे? इसके लिए हमें उनकी शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी से कुछ पीछे जा कर ब्रिटिश संसद में दिए गए उनके एक भाषण को देखना होगा। 10 जुलाई, 1833 को कम्पनी के चार्टर पर हुई बहस में बोलते हुए मैकॉले ने चेतावनी दी कि भारतवासियों को बर्बरों की भाँति अपनी प्रजा बनाए रखने में ब्रिटेन का न कोई फ़ायदा है और न ही ख़ूबी। भारत के दस करोड़ लोगों को अपना दास बनाए रखना बेकार और महँगा साबित होगा अगर वाणिज्य और कारखाना उत्पादन में महानता प्राप्त कर चुका ब्रिटेन जैसा राष्ट्र उन्हें अपने माल का 'ग्राहक' न बना पाया। बंद्योपाध्याय ध्यान दिलाते हैं कि मैकॉले ने अपने भाषण के इस हिस्से में किसी दूसरे देश पर राजनीतिक प्रभुत्व और आर्थिक प्रभुता क़ायम रखने में फ़र्क़ किया है। उनके मुताबिक़ आर्थिक वर्चस्व के लिए राजनीतिक कब्ज़ा कोई पूर्व-शर्त नहीं है। इसके लिए उपनिवेशितों की अभिरुचियाँ (टेस्ट) बदलना होगा, और यह काम अँग्रेज़ी पढ़ाने से हो सकता है– 'टीच देम इंग्लिश ऐंड दे विल हेंकर फ़ॉर इंग्लिश गुड्स'। बंद्योपाध्याय का अर्थ-निरूपण यह है कि मैकॉले अँग्रेज़ी को ब्रिटिश पूँजीवाद की उन सम्भावनाओं को पुष्ट करने के औज़ार की तरह देख रहे थे जब उपनिवेशवाद के हाथ में राजनीतिक सत्ता नहीं रह जाएगी। लेकिन, इस भाषण के आख़िरी हिस्से में मैकॉले ने भविष्य के जिस साम्राज्य की चर्चा की है वह राजनीतिक उपनिवेशवाद का उत्तर-काण्ड ज़रूर था, लेकिन वह केवल बाज़ार-गतिकी पर आधारित आर्थिक वर्चस्व नहीं था :

> 10 जुलाई, 1833 को कम्पनी के चार्टर पर हुई बहस में बोलते हुए मैकॉले ने चेतावनी दी कि भारतवासियों को बर्बरों की भाँति अपनी प्रजा बनाए रखने में ब्रिटेन का न कोई फ़ायदा है और न ही ख़ूबी। भारत के दस करोड़ लोगों को अपना दास बनाए रखना बेकार और महँगा साबित होगा अगर वाणिज्य और कारखाना उत्पादन में महानता प्राप्त कर चुका ब्रिटेन जैसा राष्ट्र उन्हें अपने माल का 'ग्राहक' न बना पाया।

अप्रत्याशित दुर्घटनाएँ हमारी कुशलतम नीतिगत योजनाओं को अस्तव्यस्त कर सकती हैं। हो सकता है कि जीत हर समय हमारे गले का हार न बन सके। लेकिन ऐसी भी जीतें होती हैं जिनके बाद किसी हार का अन्देशा नहीं होता। एक ऐसा साम्राज्य भी है जो क्षय के किसी भी क़ुदरती नियम से मुक्त है। वे जीतें बर्बरता के ऊपर विवेक की प्रशान्त जीतें हैं। वह साम्राज्य हमारी कलाओं और हमारी नैतिकताओं का, हमारे साहित्य और हमारे क़ानूनों का अक्षय साम्राज्य है।[20]

19. देखें, गौरी विश्वनाथन (1988), वही। ख़ास बात यह है कि अँग्रेज़ी साहित्य में धार्मिकता के आयामों की प्रशंसा करने वाले उपनिवेशवादी भारतीय या हिन्दू साहित्य के धार्मिक पहलुओं के कड़े निन्दक थे। इस सन्दर्भ में वे मात्रा के तर्क का इस्तेमाल करते थे कि संस्कृत के ग्रन्थ अपने सारतत्त्व में हिन्दू धार्मिक विश्वासों से कहीं अधिक जुड़े हुए हैं। मैकॉले ने मिल्टन और प्राच्य साहित्य की तुलना करते हुए कहा था कि मिल्टन ने ईसाइयत द्वारा प्रदत्त सत्य को ग्रहण अवश्य किया है, लेकिन प्राच्य साहित्य देशज धार्मिक प्रणालियों से कहीं ज़्यादा घुलामिला है। जब मैकॉले से कहा गया कि वे अपने इस कथन की कुछ अधिक व्याख्या करें, तो उन्होंने कहा कि दोनों के बीच 'अन्तर' दरअसल 'मात्रा' का है।

20. एरिक स्टोक्स (1953), वही : 45 पर उद्धृत

एरिक स्टोक्स को मैकॉले की इन बातों में चालीस साल पहले कही गई चार्ल्स ग्रांट और विलियम विल्बरफ़ोर्स की बातें ध्वनित होते सुनाई पड़ती हैं। लेकिन, कट्टर धर्मप्रचारवादी (इवांजिलिकल) मुहिम चलाने वाले क्लैफ़म सेक्ट के इन पुरोधाओं को ये विचार कहाँ से मिले थे?[21] ये विचार अँग्रेज़ी के मानकीकरण की मुहिम से प्राप्त हुए थे। मैकॉले अपने इस भाषण में एक ऐसे चिरस्थायी साम्राज्य की सम्भावनाएँ रेखांकित कर रहे थे जिसकी कल्पना थॉमस शेरिडान और सेमुअल जॉनसन ने अठारहवीं सदी में अँग्रेज़ी का मानकीकण करते हुए की थी। अँग्रेज़ी के इसी चिरस्थायी साम्राज्य को क़ायम करने के लिए ही मैकॉले ने अपनी शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी तैयार की थी। वे सांस्कृतिक और भाषाई साम्राज्यवाद की उसी परियोजना की अगली कड़ी थे।

ज्ञान और भाषा के सन्दर्भ में मैकॉले की दावेदारियाँ : एक समीक्षा

मैकॉले ने अपनी टिप्पणी में एक तरफ़ तो यह मानने में कोई संकोच नहीं किया कि उन्हें संस्कृत, अरबी या फ़ारसी नहीं आती, और उन्होंने इन भाषाओं की रचनाओं के कुछ अनुवाद ही पढ़े हैं, दूसरी ओर उन्होंने इन भाषाओं में लिखे गए ज्ञान को पूरी तरह से स्तरहीन करार दे कर ख़ारिज कर दिया। ऐसा उन्होंने किस आधार पर किया? उनकी टिप्पणी के कुछ समीक्षक मानते हैं कि राजा राममोहन रॉय के 1823 वाले पत्र के तर्कों ने मैकॉले की इसमें मदद की थी। हम ऊपर देख चुके हैं कि राममोहन के पत्र की दो-तीन अभिव्यक्तियाँ तो मैकॉले द्वारा सीधे-सीधे इस्तेमाल कर ली गई थीं। लेकिन वास्तव में इससे भी बहुत आगे जा कर राममोहन के पत्र ने मैकॉले के लिए यह तय करने की गुंजाइश प्रदान की कि भारतीय उपनिवेशितों के बौद्धिक जीवन से क्या हटाना है और उसकी जगह क्या लाना है। आंग्लवादियों के लिए गवर्नर-जनरल लॉर्ड एमहर्स्ट को लिखे गए इस पत्र की अहमियत कितनी थी, इसका अन्दाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि तीन साल बाद यानी 1835 में जब चार्ल्स ट्रेवेलियन ने अपनी रचना *ऑन द एजुकेशन ऑफ़ द पीपुल ऑफ़ इंडिया* में इसे आद्योपान्त उद्धृत कर डाला।[22]

> मैकॉले ने अपनी टिप्पणी में एक तरफ़ तो यह मानने में कोई संकोच नहीं किया कि उन्हें संस्कृत, अरबी या फ़ारसी नहीं आती, और उन्होंने इन भाषाओं की रचनाओं के कुछ अनुवाद ही पढ़े हैं, दूसरी ओर उन्होंने इन भाषाओं में लिखे गए ज्ञान को पूरी तरह से स्तरहीन करार दे कर ख़ारिज कर दिया। ऐसा उन्होंने किस आधार पर किया?

दरअसल, मैकॉले की कई बातें उनसे बारह साल पहले राममोहन ने अपनी चिट्ठी में कह दी थीं। उनके तर्कों के केन्द्र में भी 1813 के चार्टर का अनुच्छेद 43 था। इसी की व्याख्या से तय होने वाला था कि कम्पनी सरकार भारतवासियों की शिक्षा के लिए एक लाख रुपए किस मद में ख़र्च करेगी। राममोहन का कहना था : गवर्नर-जनरल को पुराने किस्म के ज्ञान की शिक्षा देने में धन नहीं ख़र्च करना चाहिए। देश में संस्कृत

21. अठारहवीं सदी के आख़िरी दशक में उभरे बेहद आक्रामक और कट्टर इंजीली धर्मप्रचारवादी सेक्ट का नाम क्लैफ़म इसलिए पड़ा कि उसकी ज़्यादातर प्रमुख हस्तियाँ क्लैफ़म नामक जगह पर रहती थीं। चार्ल्स ग्रांट और विलियम विल्बरफ़ोर्स इसी सेक्ट के सदस्य थे। मैकॉले के पिता ज़ैकरी मैकॉले भी इसके सदस्य थे। इतिहासकारों के अनुसार क्लैफ़म सेक्ट के प्रभाव के कारण ही विक्टोरियाई युग को उसकी 'आदरणीयता' प्राप्त हुई। इसी सेक्ट के प्रभाव को औद्योगिक क्रान्ति से उपजे व्यक्तिवाद को संयमित करने का श्रेय दिया जाता है। भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के सोच-विचार और नीति-निर्माण को निर्णायक रूप से प्रभावित करने में इसी सेक्ट द्वारा भेजे गए अधिकारियों की प्रमुख भूमिका रही। इस सेक्ट की प्रमुख हस्तियाँ ब्रिटिश उपयोगितावादी दर्शन और ब्रिटिश उदारतावाद के साथ भी गहराई से जुड़ी हुई थीं। एरिक स्टोक्स (1959) ने अपनी रचना *द इंग्लिश यूटिलिटेरियंस ऐंड इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली में इस सम्बन्ध को विस्तार से स्थापित किया है।

22. राजा राममोहन रॉय के इस पत्र के पूरे पाठ के लिए देखें, ज़ैस्टौपिल और मार्टिन मोइर (1999), वही : 110-114।

के बहुत से प्रोफ़ेसर मौजूद हैं। जिसे संस्कृत पढ़नी होगी वह उनसे पढ़ लेगा। सरकार को नौजवानों के दिमाग़ पर अमूर्त किस्म के ज्ञान का बोझ नहीं डालना चाहिए। वेदान्त, व्याकरण, न्यायसूत्र और मीमांसा जैसी ज्ञान-प्रणालियाँ हमारे काम की नहीं रह गई हैं। इन फ़ालतू बातों के बजाय नौजवानों को फ्रांसिस बेकन का दर्शन और इन्द्रियानुभववादी विज्ञान पढ़ाया जाना चाहिए। पश्चिम के राष्ट्रों की एशिया सम्बन्धी भव्य महत्त्वाकांक्षाएँ तभी पूरी हो सकती हैं जब यहाँ आधुनिक युरोप की कलाओं और विज्ञान का पौधा लगाया जाए। और यह तभी हो सकता है जब पाठ्यक्रम गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायनशास्त्र, शरीरशास्त्र और अन्य उपयोगी विज्ञानों से मिल कर बना हो। राममोहन की एक-एक बात मैकॉले और ट्रेवेलियन के लिए बेहद उपयोगी इसलिए थी कि वे 1818 में शंकर के *ब्रह्मसूत्र* का भाष्य लिख चुके थे। 1816 से 1818 के बीच उन्होंने अकेले दम पर उपनिषदों का शाब्दिक अनुवाद कर डाला था। पाँच उपनिषद बंगाली में और पाँच अँग्रेज़ी में अनूदित किए गए थे। यानी, वे एक ऐसी हस्ती थे जिनके बारे में यह कहा जा सकता था कि वे संस्कृत में उपलब्ध विद्या का ज्ञान प्राप्त करने के बाद उसे व्यर्थ का बता रहे हैं।[23] ज़ाहिर है कि ज़माना बदल चुका था। राममोहन के जिन विचारों को बीस के दशक में भारतीय इच्छा की प्रतिनिधि मानने से इंकार कर दिया गया था, उन्हीं विचारों को ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने शिक्षा और भाषा सम्बन्धी अपने निर्णय लेने के लिए इस अन्दाज़ में स्वीकार किया जैसे वे समूचे भारत की नुमाइन्दगी कर रहे हों। 1833 में एक बार पहले भी यही हुआ था जब हाउस ऑफ़ कॉमंस की शिक्षा सम्बन्धी चयन समिति के सामने राममोहन की गवाही को कमेटी के अध्यक्ष रॉबर्ट पील ने इस बात का सबूत माना था कि भारतवासी अँग्रेज़ी शिक्षा और युरोपीय ज्ञान-विज्ञान सीखने के लिए व्याकुल होते जा रहे हैं।

> भारतीय समाज जिन ज्ञान-प्रणालियों के आधार पर अपनी भाषाओं में विद्या का सन्धान कर रहा था, वह प्रक्रिया कम्पनी सरकार की तरफ़ से अचानक ठप्प कर दी गई। जहाँ व्यावहारिक कारणों से अथवा स्वयं अँग्रेज़ों की अपनी रणनीतिक दुविधाओं के कारण यह प्रक्रिया ठप्प नहीं हो पाई, वहाँ इसे बेतहाशा मन्द कर दिया गया।

जो भी हो, भारतीय विद्या को अनुपयोगी और स्तरहीन करार देने का परिणाम यह निकला कि अँग्रेज़ों द्वारा विशाल पैमाने पर भारतीय ज्ञान-प्रणालियों की जगह पश्चिमी ज्ञान-प्रणाली की स्थापना की एक ऐसी मुहिम शुरू की गई जिसमें दोनों के बीच किसी संवाद की भी गुंजाइश नहीं थी (प्राच्यवादियों की 'क़लम लगाने' की रणनीति के तहत भी यह गुंजाइश केवल शुरुआती दौर में ही सम्भव थी, क्योंकि क़लम लगाने के बाद तो अँग्रेज़ी और युरोपीय ज्ञान-विज्ञान के फल और फूल ही पैदा होने वाले थे।) इस तरह भारतीय समाज जिन ज्ञान-प्रणालियों के आधार पर अपनी भाषाओं में विद्या का सन्धान कर रहा था, वह प्रक्रिया कम्पनी सरकार की तरफ़ से अचानक ठप्प कर दी गई। जहाँ व्यावहारिक कारणों से अथवा

23. मैकॉले और ट्रेवेलियन ने राममोहन के पत्र का अपने पक्ष में इस्तेमाल ज़रूर किया, लेकिन इसका यह मतलब निकालना उचित नहीं होगा कि राममोहन और इन दोनों के मक़सद में कोई अन्तर नहीं था. शिवाजी बंद्योपाध्याय (2012) ने कुछ बारीक़ विश्लेषण करके दिखाया है कि राममोहन का आज्ञाकारी भारतीय अपनी बौद्धिक उन्नति के लिए अपनी मर्ज़ी से युरोपीय ज्ञान-विज्ञान का अनुशीलन करने वाला था, जबकि मैकॉले का आज्ञाकारी भारतीय बाज़ार में खड़े एक ग्राहक की तरह युरोपीय वस्तुओं और ज्ञान के एक उपभोक्ता की तरह उभरता है. राममोहन एक ऐसी शिक्षा की तरफ़ इशारा कर रहे थे जो विचारों के खुले आदान-प्रदान की अपेक्षाओं पर टिकी थी, जबकि मैकॉले बाज़ार की गड़बड़ियों के कारण पैदा हुई दिक़्क़तों से निबटने के लिए युरोपीय विचारों की जानकारी देना चाहते थे.

स्वयं अँग्रेज़ों की अपनी रणनीतिक दुविधाओं के कारण यह प्रक्रिया ठप्प नहीं हो पाई, वहाँ इसे बेतहाशा मन्द कर दिया गया। सुदीप्त कविराज ने अपनी बेहतरीन रचना 'द सडन डेथ ऑफ़ संस्कृत नॉलेज' में इसे 'विशालतम पैमाने पर हुई ज्ञानमीमांसात्मक विच्छिन्नता' की संज्ञा दी है। कविराज के अनुसार यह ज्ञानोत्पादन सम्बन्धी विच्छिन्नता इतिहास के अपने तरह के सबसे बड़े प्रकरणों में से एक है :

> *इसमें शायद ही कोई विवाद हो कि उन्नीसवीं सदी के भारत में, उसके कुछ हिस्सों में कुछ समय बाद, विशालतम पैमाने पर एक 'ज्ञानमीमांसात्मक विच्छिन्नता' घटित हुई। अँग्रेज़ी ने गम्भीर, संकुल और उच्चस्तरीय ज्ञान के वाहक के तौर पर संस्कृत और इस्लामी सन्दर्भ में फ़ारसी-अरबी को प्रतिस्थापित कर दिया। इससे भी ज़्यादा अहम बात यह है कि यह 'भाषा-प्रतिस्थापन' दो तरह से विशिष्ट होने के साथ-साथ आपस में सम्बन्धित भी था। यह केवल एक नैसर्गिक भाषा संस्कृत से दूसरी नैसर्गिक भाषा अँग्रेज़ी में होने वाला अन्तरण ही नहीं था। ये नैसर्गिक भाषाएँ बेहद गहन अवधारणात्मक भाषाई सामग्री का आगार थीं, और यह सामग्री संज्ञानात्मक व्याकरण की विस्तृत संरचना का हिस्सा थी। अर्थात, इनमें वे मान्य विधियाँ निहित थीं जिनके ज़रिए 'नाना प्रकार के ज्ञान' को ज्ञान की तरह स्वीकृत, अर्जित, संग्रहीत, प्रसारित करने के साथ-साथ बौद्धिक व व्यावहारिक परम्पराओं की तरह जारी रखा जाता था। इस संज्ञानात्मक परिवर्तन का विस्तार कितना सम्पूर्ण था इसका अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि एक-दूसरे से ख़ासे अलग समझे जाने वाले गणित, तर्कशास्त्र, खगोलशास्त्र, औषधि, नैतिक विमर्श, धार्मिक चिन्तन, व्याकरण और सौन्दर्यशास्त्र जैसे ज्ञानानुशासनों में भी घटित हुआ। यानी जो कुछ भी 'ज्ञान' था, वह इसके कारण रूपान्तरित हो गया।*[24]

> इसमें शायद ही कोई विवाद हो कि उन्नीसवीं सदी के भारत में, उसके कुछ हिस्सों में कुछ समय बाद, विशालतम पैमाने पर एक 'ज्ञानमीमांसात्मक विच्छिन्नता' घटित हुई। अँग्रेज़ी ने गम्भीर, संकुल और उच्चस्तरीय ज्ञान के वाहक के तौर पर संस्कृत और इस्लामी सन्दर्भ में फ़ारसी-अरबी को प्रतिस्थापित कर दिया।

कविराज ने यह अवलोकन केवल संस्कृत, अरबी और फ़ारसी में उपलब्ध ज्ञान के सन्दर्भ में किया है, लेकिन यह विच्छिन्नता कहीं गहरी और व्यापक थी। मैकॉले-बेंटिक की जुगलबन्दी का प्रभाव चौतरफ़ा पड़ा। क्लासिकल भाषाओं के प्रभाव में भारतीय भाषाओं में होने वाले ज्ञानोत्पादन पर भी विपरीत असर पड़ा। न केवल भारतीय विज्ञान के विकास की अपनी संश्लिष्ट प्रक्रिया थम गई, बल्कि उसका युरोपीय विज्ञान से होने वाला लेन-देन भी ख़त्म हो गया। अँग्रेज़ी भाषा के आधिपत्य के कारण पहले से चली आ रही शिक्षा-व्यवस्था भी अगले कुछ दशकों में या तो नष्ट हो गई या नष्ट होने के कगार पर पहुँच गई।

ऐतिहासिक रूप से भीषण इस विच्छिन्नता के पीछे उपनिवेशवादियों द्वारा दिया गया एक दोहरा तर्क काम कर रहा था। इस तर्क का पहला आयाम यह था : भारत का तत्कालीन वर्तमान एक ऐसे बौद्धिक तलछट में पड़ा हुआ है जहाँ से उसे एकमात्र अँग्रेज़ी और पश्चिमी ज्ञान-प्रणाली के माध्यम का इस्तेमाल किए हुए नहीं निकाला जा सकता। जैसा कि हमने देखा है कि भारतीय अतीत के बारे में अपने मतभेदों

24. देखें, सुदीप्त कविराज (2005), 'द सडन डेथ ऑफ़ संस्कृत नॉलेज', *जरनल ऑफ़ इंडियन फ़िलॉसफ़ी*, खण्ड 33 : 119-142.

के बावजूद प्राच्यवादियों और आंग्लवादियों में इस बात पर सहमति थी। अर्थात, इस दावे के मुताबिक़ ज्ञान-विज्ञान के लिहाज़ से सत्रहवीं और अठारहवीं पतन की सदियाँ होनी चाहिए थीं। केवल तभी उन्नीसवीं सदी का पूर्वार्ध बौद्धिक तलछट का समय हो सकता था। यहाँ देखना होगा कि क्या इन भारतीय सदियों के बौद्धिक इतिहास-लेखन में अँग्रेज़ महाप्रभुओं और उनके स्थानीय पैरोकारों की इन दावेदारियों को सही ठहराने वाले प्रमाण मिलते हैं? इस तर्क का दूसरा आयाम यह था : अगर अँग्रेज़ों से पहले के भारत के पास ज्ञान-विज्ञान और कला-संस्कृति के लिहाज़ से कुछ था भी, तो भी उसे अँग्रेज़ों और उनके भारतीय समर्थकों के नेतृत्व में बनती हुई आधुनिकता के लिए उपयोगी नहीं माना जा सकता। इसलिए उसे इतिहास के कूड़ेदान में डाल देना ही उचित होगा। यहाँ देखना यह होगा कि क्या भारतीय ज्ञान-विज्ञान की उपयोगिता को ख़ारिज करते समय पश्चिमी ज्ञान द्वारा प्रदत्त विधियों और संहिताओं का प्रयोग किया गया, या उन्हें केवल राजसत्ता के बल पर एक सपाट क़िस्म का विचारधारात्मक दावा करके अपनी मौत मर जाने के लिए गुमनामी और अनुपयोग के अँधेरों में फेंक दिया गया? कहना न होगा कि उपनिवेशवादियों के इस दोहरे तर्क की पड़ताल यहाँ बहुत संक्षेप में ही की जाएगी, क्योंकि इस विषय पर उपलब्ध अनुसन्धानपरक साहित्य इतना विपुल है कि उसपर एक नहीं बल्कि कई खण्डों में ग्रन्थमालाएँ लिखी जा सकती हैं।

अँग्रेज़ों के पहले भारत में ज्ञान–विज्ञान और कला–संस्कृति

जिस तरह युरोप में लैटिन ज्ञान-विज्ञान की भाषा थी, उसी तरह भारत में उससे भी बहुत पहले से संस्कृत, अरबी और फ़ारसी जैसी तीन क्लासिक भाषाएँ यही भूमिका निभा रही थीं। ध्रुव रैना के अनुसार इन तीनों भाषाओं के समृद्ध विमर्शी संसार अलग-अलग दायरों में बन्द नहीं थे, बल्कि इनके बीच एक कारगर अन्योन्यक्रिया चलती रहती थी। औषधि, खगोलशास्त्र और दर्शनशास्त्र में इस रचनात्मक आदान-प्रदान के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। इस प्रक्रिया में एक संकर और परस्पर गुँथी हुई ज्ञानार्जन की प्रक्रिया के ज़रिए भारतीय समाज ज्ञान का सन्धान करता था।[25] शेल्डन पोलोक के अनुसार 1550 से 1750 के बीच के समय (जिसे आंग्लवादियों और प्राच्यवादियों, दोनों ने बौद्धिक पतन का काल माना है) को भारत के बौद्धिक इतिहास का सबसे सृजनशील दौर कहा जाना चाहिए। इस दौरान व्याकरण, न्याय, धर्मशास्त्र, अलंकारशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष और गणित के अनुशासनों में विपुल रचनाशीलता सामने आई। यह केवल पुराने ज्ञान का दोहराव न हो कर एक ऐसा अनूठा नवीकरण था जिसमें हर अनुशासन नई अवधारणात्मक श्रेणियों और विमर्शी संहिताओं का अनावरण कर रहा था।[26] चौदहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक संस्कृत और अरबी के बीच परस्परव्यापी

> चौदहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक संस्कृत और अरबी के बीच परस्परव्यापी रचनाशीलता के प्रमाण उपलब्ध हैं। भारतीय विद्वानों ने बारहवीं और तेरहवीं सदी में ही फ़ारसी के विद्वानों की सोहबत में अरबी की रचनाएँ पढ़ना शुरू कर दी थीं। खगोलशास्त्र के दायरे में इस विद्वत्ता का भारत को बहुत लाभ हुआ।

25. देखें, ध्रुव रैना (2013), 'रिविज़िटिंग सोशल थियरी ऐंड हिस्ट्री ऑफ़ साइंस इन अर्ली मॉडर्न साउथ एशिया ऐंड कोलोनियल इंडिया', *एक्सट्रीम ओरिएंट-एक्सट्रीम ऑक्सीडेंट,* अंक 13 (सत्रहवीं से उन्नीसवीं सदी के बीच मानवीय गतिशीलता और प्रौद्योगिकीय ज्ञान के परिसंचरण पर विशेषांक) : 191-210.

26. देखें, शेल्डन पोलोक की दो रचनाएँ : (2001), 'न्यू इंटलेक्चुअल कम्युनिटीज़ इन 17थ सेंचुरी इंडिया', *द इंडियन इकॉनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* खण्ड38, अंक 1 : 3-31; (2004), 'फ़ॉर्म्स ऑफ़ नॉलेज इन अर्ली मॉडर्न इंडिया', पब्लिक कल्चर, खण्ड 12, अंक 3 : 19-21

रचनाशीलता के प्रमाण उपलब्ध हैं। भारतीय विद्वानों ने बारहवीं और तेरहवीं सदी में ही फ़ारसी के विद्वानों की सोहबत में अरबी की रचनाएँ पढ़ना शुरू कर दी थीं। खगोलशास्त्र के दायरे में इस विद्वत्ता का भारत को बहुत लाभ हुआ। हिन्दू और जैन ज्योतिषियों ने अरबी-फ़ारसी में उपलब्ध तकनीकी औज़ारों के बारे में उत्साहपूर्वक जानकारी हासिल की और बड़ी संख्या में सम्बन्धित संहिताएँ लिखी गईं और उपकरणों का आविष्कार हुआ।[27]

कविराज ने अपने पूर्वोद्धृत लेख में अतीत के सन्धान में अकसर की जाने वाली एक ग़लती की ओर इंगित किया है जो मुख्यतः औपनिवेशिक इतिहास-लेखन की देन है। उन्होंने इसे 'साम्राज्यिक पूर्वग्रह' की संज्ञा दी है। इसके मुताबिक़ साम्राज्यिक सत्ता की मज़बूती को आर्थिक ख़ुशहाली, सामाजिक प्रगति और बौद्धिक विकास का पर्याय, और साम्राज्यिक सत्ता की कमज़ोरी का मतलब इन सभी क्षेत्रों में गिरावट के तौर पर मान लिया जाता है। ध्रुव रैना के अनुसार फ़्रांस्वा बर्नियर द्वारा किए गए अवलोकन के आधार पर यह ग़लतफ़हमी पैदा होती है कि अपने कमज़ोर होते हुए प्रभाव और विस्तार के आख़िरी वर्षों में मुग़ल शासन केवल अपना तोपख़ाना दुरुस्त करने में ही दिलचस्पी दिखा रहा था। इस समझ के विपरीत मुग़ल हुकूमत के तहत अठारहवीं सदी चित्रकारी, संगीतशास्त्र और साहित्य के क्षेत्र में असाधारण उन्मेष की सदी थी। उर्दू साहित्य के लिए तो यह स्वर्णकाल था। दूसरे, अठारहवीं सदी के मध्य में जब मुग़ल हुकूमत अराजकता का शिकार होने लगी तो कवि, कलाकार, लेखक और अन्य गणमान्य लोग राजाश्रय की तलाश में उन क्षेत्रीय राजनीतिक शक्तियों की तरफ़ चले गए जो मुग़ल साम्राज्य की परिधि पर पनप रही थीं। वहाँ जा कर राज्य की मदद से इन लोगों ने चिन्तन-मनन की नई परम्पराओं और विचार-कुलों की स्थापना की। मसलन, अगर मुग़ल साम्राज्य में विज्ञान की उन्नति रुक गई थी तो राजा जय सिंह, जो स्वयं एक कुशल गणितज्ञ और खगोलविद थे, के राज्य में अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध में जयपुर जैसे शहर और आमेर जैसी नई राजधानी का ज्यामितीय नियोजन और निर्माण किया जा रहा था। जय सिंह का रवैया ख़ासा सार्वदेशिक था, और उन्हें इस्लामिक और फ़्रांसीसी परम्परा से निकली विद्वत्ता को पहलक़दमी लेकर अपनाने में कोई ऐतराज न था। अगर ज्ञान-विज्ञान का क्षय हो रहा था तो पूछने लायक सवाल यह है कि 1750 से 1850 के बीच दिल्ली, लखनऊ, हैदराबाद और लाहौर में फ़ारसी के प्रकाशक ईरान, तुर्की और मध्य एशिया के भी कुछ इलाक़ों से ज़्यादा बड़ी संख्या में पुस्तकें कैसे छाप रहे थे?

> उन्नीसवीं सदी के दौरान वैज्ञानिक और तर्कसंगत चिन्तन और हिन्दू मानस के बीच शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोध दिखाने के मामले में न केवल उपनिवेशवादी अँग्रेज़ अपनी भूमिका निभा रहे थे, बल्कि उपनिवेशवाद को तिरछी निगाह से देखने वाले अँग्रेज़ भी यह बताने में पीछे नहीं थे कि हिन्दुओं के पास आधुनिक विज्ञान को सम्बोधित करने वाली वैज्ञानिक विरासत नहीं है।

उन्नीसवीं सदी के दौरान वैज्ञानिक और तर्कसंगत चिन्तन और हिन्दू मानस के बीच शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोध दिखाने के मामले में न केवल उपनिवेशवादी अँग्रेज़ अपनी भूमिका निभा रहे थे, बल्कि उपनिवेशवाद को तिरछी निगाह से देखने वाले अँग्रेज़ भी यह बताने में पीछे नहीं थे कि हिन्दुओं के पास आधुनिक विज्ञान को सम्बोधित करने वाली वैज्ञानिक विरासत नहीं है। इस बारे में वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद के साम्राज्यवाद विरोधी पैरोकार सैमुअल लॉब का उदाहरण दृष्टव्य है। लॉब का कहना था कि चिन्तन के विज्ञानसम्मत तौर-तरीक़े हिन्दू

27. देखें, श्रीरामुलु राजेश्वर सरमा (1999), 'द एस्ट्रोलैब इन संस्कृत', *इंडियन जरनल ऑफ़ हिस्ट्री ऑफ़ साइंस*, खण्ड 34, अंक 2 : 145-158.

चिन्तनशीलता के चिह्नित लक्षणों में फ़िट नहीं बैठते।[28] इस तरह की दलील के जवाब में बंगाल के प्रत्यक्षवादी विचारक नगेंद्रनाथ घोष ने उसी समय यह दावा किया था कि प्राचीनकालीन हिन्दुओं को विज्ञान पर महारत हासिल थी और उनका मानस किसी भी तरह से अवैज्ञानिक नहीं था। इसी तरह एक अन्य प्रत्यक्षवादी विद्वान राजकृष्ण मुखर्जी ने भारतीय गणित की उपलब्धियाँ रेखांकित करते हुए दिखाया कि किस तरह आधुनिक वैज्ञानिक खोजें भारतीय गणित की ऋणी हैं। अपने शुरुआती दौर में बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय भी प्रत्यक्षवाद से प्रेरित हुए थे। उस समय उन्होंने भी कहा था कि हिन्दू मानस को अवैज्ञानिक मानना तथ्यत: आपत्तिजनक है।[29] दरअसल, लॉब का तर्क वैसा ही था जैसा मैकॉले और उनके साथियों ने दिया था। भारतीय विद्वान बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों से इस दलील का खण्डन कर रहे हैं। ऐसी कई विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण रचनाएँ हैं जो बेहद विश्वसनीय ढंग से इस दावे का खण्डन करते हुए प्राचीन और मध्ययुगीन भारत में वैज्ञानिक चिन्तन, खोजों, सिद्धान्तीकरण और विमर्श के पर्याप्त प्रमाण पेश करती हैं। इनमें 1903 में प्रकाशित *अ हिस्ट्री ऑफ़ हिन्दू केमिस्ट्री* जैसी रचना है। प्रेसीडेंसी कॉलेज, कलकत्ता में केमिस्ट्री के प्रोफ़ेसर प्रफुल्ल चंद्र रॉय की इस कृति में प्राचीन काल से सोलहवीं सदी के मध्य तक की अवधि में भारतीय रसायनशास्त्र की उपलब्धियों का 544 पृष्ठ लम्बा ब्योरा दर्ज है। इसी तरह 1915 में लंदन से प्रकाशित ब्रजेंद्रनाथ सील की रचना *द पॉज़िटिव साइंसेज़ ऑफ़ एंशियेंट हिन्दूज़* और 1918 में न्यूयॉर्क से प्रकाशित विनय कुमार सरकार की रचना *हिन्दू अचीवमेंट्स इन एक्ज़ेक्ट साइंसेज़* भी इसी श्रेणी में आती हैं।[30]

> धर्मपाल का विश्लेषण बताता है कि मैकॉले द्वारा भारत को विज्ञान से वंचित बताना एक पहले से चल रही प्रचारात्मक मुहिम का परिणाम था जो चार्ल्स ग्रांट और विल्बरफ़ोर्स जैसे धर्मप्रचारवादियों ने भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के सभ्यतामूलक औचित्य को न्यायसंगत ठहराने के लिए चलाई थी।

अँग्रेज़ों से पहले के भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की दिशा-दशा पर अनुसन्धान में अपना सारा जीवन खपाने वाले मनीषी धर्मपाल ने अपनी विख्यात रचना *इंडियन साइंस ऐंड टेक्नॉलॅजी इन द एटींथ सेंचुरी* में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के भारतीय प्रकरण की प्रामाणिक उपनिवेश-पूर्व तस्वीर खींची है। धर्मपाल ने युरोपीय अभिलेखागारों का इस्तेमाल करते हुए उन युरोपीय मुसाफ़िरों, सरकारी अधिकारियों, फ़ौजी अफ़सरों और चिकित्सकों द्वारा दिए गए ब्योरे ढूँढ़ निकाले जिन्होंने भारत में काफ़ी समय बिताया था। अपनी इस रचना में उन्होंने यह भी समझाया है कि जो युरोपीय प्रेक्षक शुरू में भारतीय विज्ञान के विकसित रूप से चमत्कृत हो कर उसकी सराहना कर रहे थे, वे ही कैसे बाद में भारतीय विज्ञान का अवमूल्यन करने में जुट गए। धर्मपाल का

28. इस कथन के लिए देखें, सेमअुल लॉब (1872), 'इनफ़्लुएंस ऑफ़ वेस्ट ऑन ईस्ट', *इंडियन ऑब्ज़र्वर*, 6 जनवरी, एस इरफ़ान हबीब और ध्रुव रैना (1989), 'कॉपरनिकस, कोलम्बस, कोलोनियलिज़म ऐंड द रोल ऑफ़ साइंस इन नाइंटींथ सेंचुरी इंडिया', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 17, अंक 3/4 : 51-66।

29. बंगाल में प्रत्यक्षवादी विद्वत्ता के लिए देखें, जेराल्डाइन एच फ़ॉर्ब्स (1975), *पॉज़िटिविज़म इन बेंगाल : अ केस स्टडी इन ट्रांसमिशन ऐंड एसिमिलेशन ऑफ़ अवर आइडियोलॅजी,* पीएचडी थीसिस, युनिवर्सिटी ऑफ़ इलिनॉय, इरफ़ान हबीब और ध्रुव रैना (1989), वही में उद्धृत।

30. देखें, प्रफुल्ल चंद्र रॉय (1903), *हिस्ट्री ऑफ़ हिन्दू केमिस्ट्री,* द बेंगाल केमिकल ऐंड फ़र्मास्युटिकल वर्क्स लिमिटेड, कलकत्ता; विनय कुमार सरकार (1918), *हिन्दू अचीवमेंट्स इन एक्ज़ेक्ट साइंसेज़ : अ स्टडी इन द हिस्ट्री ऑफ़ साइंटिफ़िक डिवेलपमेंट,* लोंगमेंस, ग्रीन एंड कं., न्यूयॉर्क; और, ब्रजेंद्रनाथ सील (1915), द पॉज़िटिव साइंसेज़ ऑफ़ द एंसिएंट हिन्दूज़, लोंगमेंस, ग्रीन एंड कं., लंदन।

विश्लेषण बताता है कि मैकॉले द्वारा भारत को विज्ञान से वंचित बताना एक पहले से चल रही प्रचारात्मक मुहिम का परिणाम था जो चार्ल्स ग्रांट और विल्बरफ़ोर्स जैसे धर्मप्रचारवादियों ने भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के सभ्यतामूलक औचित्य को न्यायसंगत ठहराने के लिए चलाई थी। धर्मपाल इसमें कोलब्रुक जैसे ब्रिटिश प्राच्यवादियों की कारिस्तानी को भी रेखांकित करते हैं जिन्हें भारतीय विज्ञान प्राचीन काल में तो कारगर और उपयोगी लगता है, पर बाद में वे उसे जड़ता का शिकार बताने लगते हैं।[31]

जहाँ तक सामाजिक ज्ञान और रचनात्मक साहित्य सम्बन्धी बौद्धिक उत्पादन का सवाल है, प्रतिष्ठित इतिहासकारों के अनुसार भारत की धरती पर सत्रहवीं से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक के ढाई सौ साल विपुल सांस्कृतिक ज्ञान के उत्पादन की अवधि के रहे हैं। ख़ास बात है कि इस बौद्धिक उत्पादन की भाषा संस्कृत, अरबी और फ़ारसी न हो कर भारत की स्थानीय भाषाएँ थीं जिन्हें मैकॉले ने कूड़ा-कचरा करार दिया था। जॉन रिचड्र्स ने सवाल पूछा है कि क्या भारत की इन सदियों में लोगों, जिंसों और विचारों का परिसंचरण आधुनिक युग की तरह सघन और तीव्र था? समाज की गतिशीलता के इस प्रमाण के लिए रिचर्स् पूरे विश्वास के साथ एक लोकप्रिय धार्मिक आन्दोलन के कारण होने वाले नए क़िस्म के सांस्कृतिक उत्पादन का उल्लेख करते हैं। रिचड्र्स का कहना है कि मात्रा, सघनता और विविधता के लिहाज़ से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए इस सांस्कृतिक उत्पादन का केन्द्र उत्तर भारत था। वे अपील करते हैं कि हमें औपनिवेशिक चश्मा उतार कर नई आँखों से इन तीन सदियों में बनी नई संस्थाओं, नए सामाजिक रूपों, नई सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों और नई उत्पादकता को देखना चाहिए। रिचड्र्स ने नवीन सांस्कृतिक उत्पादन का कारण बने जिस लोकप्रिय धार्मिक आन्दोलन को उत्तर भारत में केन्द्रित बताया था, और जिसे हम सब भक्ति आन्दोलन के नाम से जानते हैं, वह एक अखिल भारतीय परिघटना था।[32] इस अवधि की विशेषता केवल इतनी ही नहीं है। 1640 से 1840 के बीच दो सौ वर्ष के दौरान उत्तर और मध्य भारत में ब्रजभाषा में काव्यशास्त्र और काव्य की बड़े पैमाने पर रचना हुई।

> प्रतिष्ठित इतिहासकारों के अनुसार भारत की धरती पर सत्रहवीं से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक के ढाई सौ साल विपुल सांस्कृतिक ज्ञान के उत्पादन की अवधि के रहे हैं। ख़ास बात है कि इस बौद्धिक उत्पादन की भाषा संस्कृत, अरबी और फ़ारसी न हो कर भारत की स्थानीय भाषाएँ थीं जिन्हें मैकॉले ने कूड़ा-कचरा करार दिया था।

इसमें न केवल संस्कृत के काव्यशास्त्र को आधार बनाया गया, बल्कि उससे परे जाते हुए उल्लेखनीय नवाचार करते हुए एक नए काव्यशास्त्र का पूरा ढाँचा ही खड़ा कर दिया गया। संस्कृत-साहित्य की दुनिया में काव्यशास्त्र के आचार्य और कवि की हस्तियाँ अलग-अलग होती थीं, पर यह एक ऐसा अनूठा काल था जब आचार्यत्व और कवित्व का मणिकांचन संयोग हुआ। जो आचार्य था, वही कवि भी था। जो सैद्धान्तिक थे, वही अभ्यासकर्ता भी थे। काव्यशास्त्रीय निरूपण संस्कृत के सीमित दायरे से निकल कर जन-भाषा में होने के कारण रचना-प्रक्रिया की बारीक़ियाँ आम लोगों के लिए सुलभ हुईं। बहुत बड़े पैमाने पर अभिजन से लेकर सर्वजन तक ब्रजभाषा में काव्य-रचना की लोकतांत्रिक सम्भावनाएँ न केवल खुलीं, बल्कि ठोस धरातल पर घटित होने लगीं। कवित्त, सवैए और दोहे रचना लोकप्रिय जन-संस्कृति

31. देखें, धर्मपाल (2000), *इंडियन साइंस ऐंड टेक्नॉलॅजी इन द एटींथ सेंचुरी : सम कंटेम्प्रेरी युरोपियन एकाउंट*, (कलेक्टिड राइटिंग्ज़ ऑफ़ धर्मपाल-खण्ड1), अदर इंडिया प्रेस, गोवा।

32. देखें, रिचड्र्स, एफ़ जॉन (1997), 'अर्ली माडर्न इंडिया ऐंड वर्ल्ड हिस्ट्री', *जरनल ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री*, खण्ड 8, अंक 2 : 197-209.

की गतिविधियों का सामान्य अंग बन गया। ब्रजभाषा काव्य और उसके साथ-साथ विकसित होने वाली काव्यकला की यह व्याप्ति केवल हिन्दी-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि उसने महाराष्ट्र और दक्षिण भारत को भी स्पर्श किया। स्वाभाविक तौर से उसका एक रिश्ता उर्दू-साहित्य के तत्कालीन विकास से भी बना। ब्रजभाषा की काव्य-रचना को उर्दू और फ़ारसी के लफ़्ज़ अपनाने से परहेज़ नहीं था, और दूसरी तरफ़ उस ज़माने में रेख़्ता, रेख़्ती या हिन्दवी की रचनाशीलता भी जनपदीय भाषाओं के साथ गहरी दोस्ती से लाभान्वित होती थी।[33]

शेल्डन पोलोक ने अपनी बहुचर्चित रचनाओं में भारत के 'वर्नाकुलराइज़ेशन' के बारे में प्रभावशाली विमर्श पेश किया है। वे कहते हैं कि दूसरी सहस्राब्दी की शुरुआती शताब्दियाँ क्षेत्रीय भाषाओं (तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, मराठी, ब्रज वग़ैरह) के उदय की हैं। यह प्रक्रिया युरोप जैसी नहीं है जहाँ 'वर्नाकुलराइज़ेशन' लैटिन भाषा की क़ब्र पर हुआ था। पोलोक के अनुसार भारत में जो क्षेत्रीय भाषाकरण हुआ, उसके कारण संस्कृत ख़त्म नहीं हुई, बल्कि उसके आधार में संस्कृत और उसकी बौद्धिक परम्परा थी।[34] पोलोक का यह दावा ब्रिटिश प्राच्यवादी प्रोजेक्ट के उस एकतरफ़ापन को रेखांकित करता है जो भारतीय विद्याओं की अभिव्यक्ति केवल क्लासिक भाषाओं के दायरे में ही करता है, और उनसे प्रभावित और उनके ज़रिए संसाधित अन्य भारतीय भाषाओं के बौद्धिक उद्यम को दृष्टि से ओझल रखता है। संस्कृत और इन भाषाओं के बीच हुई अन्योन्यक्रिया के चलते *महाभारत* दक्षिण एशिया की राजनीतिक कल्पनाशीलता को अजस्र स्रोत बना। संस्कृत काव्यशास्त्र के लक्षण ग्रन्थों ने ब्रज तथा अन्य भाषाओं में पुनर्संस्कार प्राप्त करके लोकप्रिय काव्यान्दोलनों को जन्म दिया। *रामायण* की कहानी विभिन्न भाषाओं में अलग-अलग तरह से कही गई और सामाजिक ज्ञान और संहिताओं का अहम स्रोत साबित हुई।

> शेल्डन पोलोक ने अपनी बहुचर्चित रचनाओं में भारत के 'वर्नाकुलराइजेशन' के बारे में प्रभावशाली विमर्श पेश किया है। वे कहते हैं कि दूसरी सहस्राब्दी की शुरुआती शताब्दियाँ क्षेत्रीय भाषाओं (तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, मराठी, ब्रज वग़ैरह) के उदय की हैं। यह प्रक्रिया युरोप जैसी नहीं है जहाँ 'वर्नाकुलराइजेशन' लैटिन भाषा की क़ब्र पर हुआ था।

वस्तुस्थिति यह है कि विश्लेषित अवधि में स्थानीय भाषाओं में केवल रचनात्मक साहित्य की ही रचना नहीं हुई थी। वेल्चरु नारायण राव और संजय सुब्रह्मण्यम ने दक्षिण भारत के सन्दर्भ और ख़ासकर तेलुगु भाषा के माध्यम से राजनीतिक विचार के क्षेत्र में योगदान का विस्तृत ब्योरा पेश किया है। ये दोनों इतिहासकार यह भी कहते हैं कि थोड़ी-सी कोशिशों से इसी तरह का अनुसन्धान मराठी भाषा के सन्दर्भ में भी किया जा सकता है। राव और सुब्रह्मण्यम के अनुसार मध्ययुगीन आन्ध्र के काकातीय राज्य से विजयनगर साम्राज्य के दौर तक समाज और राजनीति के प्रबन्धन के राजनीतिक सिद्धान्त का विकास हुआ। ये इतिहासकार इस साहित्य को नीति-साहित्य की श्रेणी में रखते हैं।[35] राव और सुब्रह्मण्यम ने डेविड शुलमैन के साथ मिल कर 1600-1800

33. देखें, एलिसन बुश (2011), *पोएट्री ऑफ़ किंग्ज़ : द क्लासिकल हिंदी लिट्रेचर ऑफ़ मुग़ल इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, यूएसए; और, स्टुअर्ट आर मेकग्रेगर (2003), 'दि डिवेलपमेंट ऑफ़ अ ट्रांसरीजनल ईडियम', शेल्डन पोलोक (सम्पा.), *लिटरेरी कल्चर्स इन हिस्ट्री : रिकंस्ट्रक्शंस फ़्रॉम साउथ एशिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली : 912-957.

34. देखें, शेल्डन पोलोक की दो रचनाएँ : (1998), 'इंडिया इन द वर्नाकुलर मिलेनियम : लिटरेरी कल्चर ऐंड पॉलिटी, 1000-1500', डेडलस,खण्ड127, अंक 3 : 41-74; और, (1998), 'द कॉस्मोपॉलिटन वर्नाकुलर', *द जरनल ऑफ़ एशियन स्टडीज़,* खण्ड 57, अंक 1 : 6-37।

के बीच भारत में इतिहास-लेखन की देशज विधियों के समृद्ध ब्योरे भी पेश किए हैं। उनकी बहुचर्चित रचना *टेक्स्चर ऑफ़ टाइम : राइटिंग हिस्ट्री इन साउथ इंडिया* सप्रमाण दिखाती है कि भारत में इतिहास-लेखन और ऐतिहासिक चेतना की अनुपस्थिति का दावा करने वाला विचार किस तरह आधारहीन है और ज़्यादा-से-ज़्यादा युरोकेन्द्रित आग्रहों का परिणाम है।[36]

भारतीय विद्या की मैकॉलेवादी आलोचना और उसकी व्यापक स्वीकारोक्ति का एक बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि आगे चल कर संस्कृत वांगमय की प्रचलित छवि महज़ कर्मकाण्डीयता, धर्मशास्त्रीयता और आध्यात्मिक जीवन संसाधित करने वाले पाठों की बनती चली गई। तथ्य यह था कि संस्कृत साहित्य में सौन्दर्यशास्त्र का प्रतिपादन करने वाली रचनाओं (भरत का *नाट्यशास्त्र,* धनिका-धनंजय की कृति *दशरूपक,* भामा और दण्डी की कृतियाँ काव्यालंकार और काव्यादर्श, मम्मट का *काव्यप्रकाश,* वामन का *काव्यालंकारसूत्र,* आनंदवर्धन का *ध्वन्यालोक,* अभिनव गुप्त की *अभिनव भारती),* राजनीतिशास्त्र की श्रेणी में आने वाली रचनाएँ (कौटिल्य का *अर्थशास्त्र* और कल्हण की *राजतरंगिणी),* भाषाशास्त्र की श्रेणी में आने वाली रचनाएँ (पाणिनि की *अष्टाध्यायी* और भर्तृहरि का *वाक्यपदीयम),* कामविज्ञान की श्रेणी में आने वाली रचनाएँ (वात्स्यायन का *कामसूत्र)*[37] के साथ-साथ गणित, रेखागणित, बीजगणित, भूगोल, उल्काविज्ञान, धातुविज्ञान, नौकाविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, कृषि, अभियांत्रिकी, जन्तुविज्ञान, शल्यचिकित्सा और आयुर्विज्ञान में महत्त्वपूर्ण योगदान करने वाला साहित्य (बोधायन रचित *शुल्वसूत्र,* आर्यभट्टरचित *आर्यभट्टीयम,* वराहमिहिर रचित *बृहत्संहिता,* भास्कराचार्य रचित *महाभास्करीयम,* चरक की *चरकसंहिता,* सुश्रुत की *सुश्रुतसंहिता,* वाग्भट्टकृत *अष्टांगहृदय* और *रसरत्नसमुच्चय,* माधवकर कृत *माधवनिदान* और रोगनिदान, नागार्जुन कृत *रसहृदय* आदि) अननिगत कृतियों के रूप में मौजूद था। वस्तुत: मैकॉलेवाद के प्रभाव ने भारतीय ज्ञान-प्रणालियों को विमर्श की दुनिया से ओझल करने में निर्णायक भूमिका निभाई।[38]

एक अत्यन्त विशाल वांगमय के इस संक्षिप्त विवरण के बाद इस प्रश्न पर भी ग़ौर करना ज़रूरी है कि जब सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में भारतीय ज्ञान-विज्ञान विकसित और विपुल था, तो उपनिवेशवादियों ने उसे किस आधार पर स्तरहीन और अनुपयोगी बता कर ख़ारिज किया। युरोप से आया हुआ

इस प्रश्न पर भी ग़ौर करना ज़रूरी है कि जब सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में भारतीय ज्ञान–विज्ञान विकसित और विपुल था, तो उपनिवेशवादियों ने उसे किस आधार पर स्तरहीन और अनुपयोगी बता कर ख़ारिज किया। युरोप से आया हुआ बुद्धिवादी विज्ञान स्वयं को एक प्रणाली के रूप में ढालने के लिए कुछ पद्धतिमूलक सिद्धान्तों का कड़ाई से इस्तेमाल करता था।

35. देखें, वेल्चरु नारायण राव और संजय सुब्रह्मण्यम (2009), 'नोट्स ऑन पॉलिटिकल थॉट इन मेडीवल ऐंड अर्ली मॉडर्न साउथ इंडिया', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़,* खण्ड 43, अंक 1 : 175-210।

36. देखें, वेल्चरु नारायण राव, डेविड शुलमैन और संजय सुब्रह्मण्यम (2003), *टेक्स्चर ऑफ़ टाइम : राइटिंग हिस्ट्री इन साउथ इंडिया* 1600-1800, अदर प्रेस, न्यूयॉर्क।

37. भरत, वात्स्यायन, अभिनव गुप्त, आनंदवर्धन, पाणिनि, कौटिल्य, भर्तृहरि आदि के योगदान पर विश्लेषणात्मक जानकारीपूर्ण लेखों के लिए देखें, राधावल्लभ त्रिपाठी की रचनाएँ जो *प्रतिमान समय समाज संस्कृति* के अंक दो से ग्यारह में प्रकाशित हुई हैं।

38. भारतीय ज्ञान-प्रणालियों पर 34 विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा गहन चर्चा के लिए देखें, कपिल कपूर और अवधेश कुमार सिंह (सं.) (2005), *इंडियन नॉलेज सिस्टम्ज़,* दो खण्ड, आईआईएएस-शिमला और डी.के. प्रिंट वर्ल्ड, नई दिल्ली। उच्च-माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के लिए राष्ट्रीय शैक्षिक और अनुसंधान परिषद ने इस सम्बन्ध में 2011 में एक पूरक पुस्तक प्रकाशित की है : *संस्कृत वांगमय में विज्ञान का इतिहास।*

बुद्धिवादी विज्ञान स्वयं को एक प्रणाली के रूप में ढालने के लिए कुछ पद्धतिमूलक सिद्धान्तों का कड़ाई से इस्तेमाल करता था। सुदीप्त कविराज पूछते हैं कि पश्चिमी संज्ञानात्मक प्रणालियाँ किसी भी तरह के वैज्ञानिक विचार की पुष्टि या खण्डन के लिए जिस पुष्टिकरण-प्रक्रिया पर निर्भर थीं, उसे भारत की पारम्परिक ज्ञान-विज्ञान प्रणालियों के खण्डन के लिए इस्तेमाल क्यों नहीं किया गया? लेकिन, उपनिवेशवादियों ने भारतीय ज्ञान-प्रणालियों को ख़ारिज करने से पहले उन्हें इस तरह की कसौटियों पर कसना मुनासिब नहीं समझा। कविराज अपने ही इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं :

> *क्या इस तरह का अस्वीकरण एक सच्चा 'वैज्ञानिक' अस्वीकरण कहा जा सकता है? क्या इन पारम्परिक विचारों को वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ अपना कर अयोग्य घोषित किया गया, या बिना इसके ही उन्हें कलंकित बता दिया गया। एक बुद्धिवादी ज्ञान-प्रणाली को अस्वीकरण की प्रक्रिया के एक स्वीकृत प्रारूप का पालन करना ही चाहिए था। यद्यपि पश्चिमी ज्ञान-प्रणाली के पास अस्वीकरण का एक साफ़तौर पर विकसित और व्यापक रूप से लागू कियाजा चुका मॉडल था, फिर भी उसे 'सत्य' प्रतीत होने वाली एक बड़ी ज्ञान-राशि को अस्वीकार करने के लिए कसौटी के तौर पर इस्तेमाल नहीं किया गया। ... ख़ारिज कर दिए जाने के बावजूद प्रपत्तियाँ विज्ञान के क्षेत्र में प्रपत्तियाँ ही रहती हैं ... लेकिन औपनिवेशिक सन्दर्भ में ऐसा नहीं हुआ। आयुर्वेदिक औषधि प्रणाली की प्रपत्तियाँ पुष्टिकरण की प्रक्रिया से गुज़ारे बिना मिथ्या कह कर ख़ारिज दी गईं। उन्हें थोक में ठुकरा दिया गया ... विचारधारात्मक आधार पर। ... यानी नए बुद्धिवादी विज्ञान ने अपने विरोधियों पर जो विजय प्राप्त की वह उसकी अपनी पद्धतिमूलक प्रक्रियाओं के ख़िलाफ़ जा कर की गई थी। उसे उन नियमों को तोड़ कर हासिल किया गया था जिन्हें उत्तम वैज्ञानिक आचरण के बुनियादी नियमों की तरह स्थापित किया गया था। ... ज्ञान-प्रणालियाँ लाज़िमी तौर पर सत्ता की प्रणालियों से जुड़ी होती हैं। सत्ता-प्रणालियों में होने वाले रूपान्तरणों के ज़रिए वे क़ायम होती हैं, और उन्हीं के कारण उनका रुतबा गिर जाता है। ... बौद्धिक दृष्टि से देखें तो इतने बड़े पैमाने पर संस्कृत की ज्ञान-प्रणालियों का अचानक ख़त्म होना किसी भी तरह से सामान्य मृत्यु की घटना नहीं कही जा सकती। यह मृत्यु कुछ उपकरणों के इस्तेमाल का नतीजा थी, और ये उपकरण ज्ञान की बेहतर तकनीकों के परिणाम नहीं थे, बल्कि सत्ता-प्रदत्त उपकरण थे।*[39]

यहाँ कविराज द्वारा रेखांकित किए गए एक और विश्लेषण का उल्लेख विषयानुकूल होगा। सत्ता के दम पर और विचारधारात्मक रवैए के आधार पर अंजाम दिया गया भारतीय ज्ञान-प्रणालियों का अस्वीकरण भिन्न-भिन्न तरीक़ों से औपनिवेशिक इतिहास ही नहीं, उसके प्रति की गई प्राच्यवादी और राष्ट्रवादी अनुक्रियाओं द्वारा भी सही ठहराया गया है। औपनिवेशिक सिद्धान्त ने युरोपियन संज्ञानात्मकता को बुद्धिवादी और भारतीय संज्ञानात्मकता को ग़ैर-बुद्धिवादी बता कर दोनों के बीच एक स्थूल और अकसर अनिवार्यतावादी क़िस्म का फ़र्क़ करते हुए भारतीय ज्ञान-प्रणालियों के पश्चिमी ज्ञान-प्रणालियों से प्रतिस्थापन को 'सभ्यताकारी प्रक्रिया' करार दिया। इसके विपरीत युरोपीय प्राच्यवादियों ने भारत को एक असभ्य समाज मानने की इस थीसिस का कड़ा प्रतिवाद करते हुए यह तो दिखाया कि संस्कृत की सार्वदेशिकता और भारतीय इस्लाम की भव्य संस्कृति के रूप में भारत के पास एक महान सभ्यतामूलक अतीत था, लेकिन इसी के साथ

39. देखें, सुदीप्त कविराज (2005), वही.

प्राच्यवादी और सामान्य राष्ट्रवादी इस बात पर सहमत भी हो गए कि संस्कृत-आधारित प्राचीन सभ्यता की उपलब्धियाँ पहली सहस्राब्दी तक सीमित रहीं, और उसके बाद भारत के बौद्धिक पतन का सिलसिला शुरू हो गया। अर्थात, उपनिवेशवादियों ने जो किया, उसे थोड़े हीले-हवाले के बाद प्राच्यवादियों और राष्ट्रवादी हलकों की तरफ़ से भी मान्यता मिल गई।

अभय कुमार दुबे वरिष्ठ पत्रकार एवं समाज विश्लेषक हैं। विगत दो दशक से विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी एस डी एस) दिल्ली में प्रोफ़ेसर हैं, भारतीय भाषा कार्यक्रम के निदेशक हैं एवं हिन्दी शोध पत्रिका *प्रतिमान* के सम्पादक हैं।
सम्पर्क : abhaydubey@csds.in